॥ श्रीनेमि-लावण्य-दक्ष सुशील ग्रन्थमाला रत्न ४६ वां ॥

वाचक श्रीचारित्रसुन्दर गणिवर विरचितं



शीलदूतम्

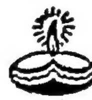


[समस्या मयं खण्डकाव्यम्]

तस्योपरि—

शासनसम्राट्--सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-ब्रह्मतेजोमूर्त्ति-महाप्रभावशालि स्व. प. पू. आ. **श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरस्य** पट्टालङ्कार साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न स्व. प. पू. आ. **श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरस्य** पट्टधर-व्याकरणरत्न-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-देशनादक्ष प. पूं. आ. **श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वरस्य** पट्टधर-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण श्रीमद्-विजयसुशीलसूरिणा विरचिता

सुशीलाभिधा वृत्तिः ।



सम्पादक—

वाचक श्रीविनोदविजयो गणि

卐

प्रकाशकम्—

आचार्य श्रीसुशीलसूरि जैनज्ञानमन्दिरम्

शान्तिनगर, सिरोही (मारवाड़) राजस्थान.

—: सम्पादक :—

जैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न
तीर्थप्रभावक
प. पू. आ. श्रीमद्विजय-
सुशीलसूरीश्वरजी म. सा.
के पट्टधर-शिष्यरत्न
पू. उपाध्याय श्रीविनोद-
विजयजी गणिवर्य महाराज.

—: प्रेरक :—

राजस्थानदीपक-मरुधरदेशो-
द्धारक-शास्त्रविशारद-
साहित्यरत्न-कविभूषण
प. पू. आ. श्रीमद्विजय-
सुशीलसूरीश्वरजी म. सा.
के शिष्य रत्न
पू. मुनिराज श्रीशालिभद्र-
विजयजी महाराज.

श्री वीर सं० २५०४
विक्रम सं० २०३४
नेमि सं० २९

नकल १०००
प्रथमावृत्तिः
मूल्यम् १०.००

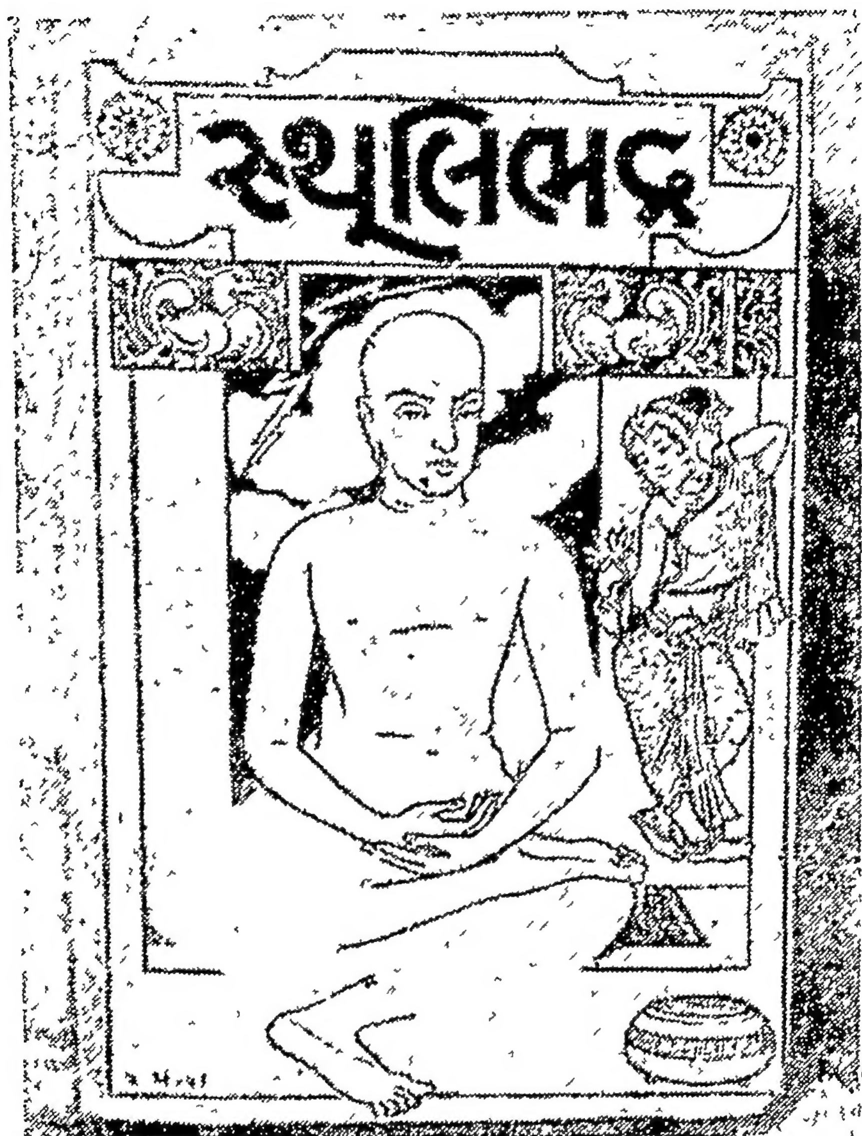
—: प्रकाशक :—

'आचार्य श्रीसुशीलसूरि
जैन ज्ञानमन्दिर'
शान्तिनगर, सिरोही
(मारवाड़), राजस्थान

मुद्रकः—

छगनलाल जैन
गौतम आर्ट प्रिन्टर्स
लोहिया बाजार
ब्यावर (मारवाड़)
राजस्थान

दुष्करदुष्कर कारक कामविजेता-श्रुतकेवली



आर्य श्री-

स्थूलभद्रजी महाराज.

प्रारम्भिक प्रकथन

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ॥१॥

बुद्धिमान् पुरुषोनो समय काव्यशास्त्रना विनोद-आनंदपूर्वक पसार थाय छे, अने मूर्ख पुरुषोनो समय निद्रा अथवा क्लेश द्वारा पसार थाय छे ॥ १ ॥

काव्यनुं स्वरूप—

विश्वमां अनेक शास्त्रो वर्त्ती रह्यां छे। तेमां काव्यशास्त्रनुं पण स्थान अति सुन्दर छे। सद्गुणनी प्राप्ति अने सद्गुण प्रत्येनी रुची थवाना अनेक साधनो पैकी काव्य ए सौथी श्रेष्ठ साधन मानवामां आवेल छे। जगतनी जनतानुं आकर्षण काव्य प्रत्ये विशेष रहे छे। सुविख्यात काव्यानुशासन, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण अने दशरूपक आदि अनेक ग्रन्थोमां काव्य अने तेना भेद-प्रभेदनुं वर्णन विशदरूपे वर्णवेल छे।

तेना सार रूपे संक्षेपमां अहीं जणाववामां आवे छे के—
काव्यना बे भेद छे। (१) दृश्यकाव्य अने (२) श्रव्यकाव्य।

(१) जे भजवी शकाय अने श्रवण करी शकाय अर्थात् सांभली शकाय ते 'दृश्यकाव्य' कहेवाय छे।

आ दृश्यकाव्यना नाटक, नाटिका, प्रकरण, भाण अने प्रहसन आदि अनेक भेदो छे।

(२) जे भजवी शकातुं न होय, किन्तु केवल श्रवण अर्थात् सांभळवा अने वांचवाना उपयोगमां आवतुं होय ते 'श्रव्यकाव्य' कहेवाय छे।

आ श्रव्यकाव्यना पण त्रण प्रकार छे। जुओ—

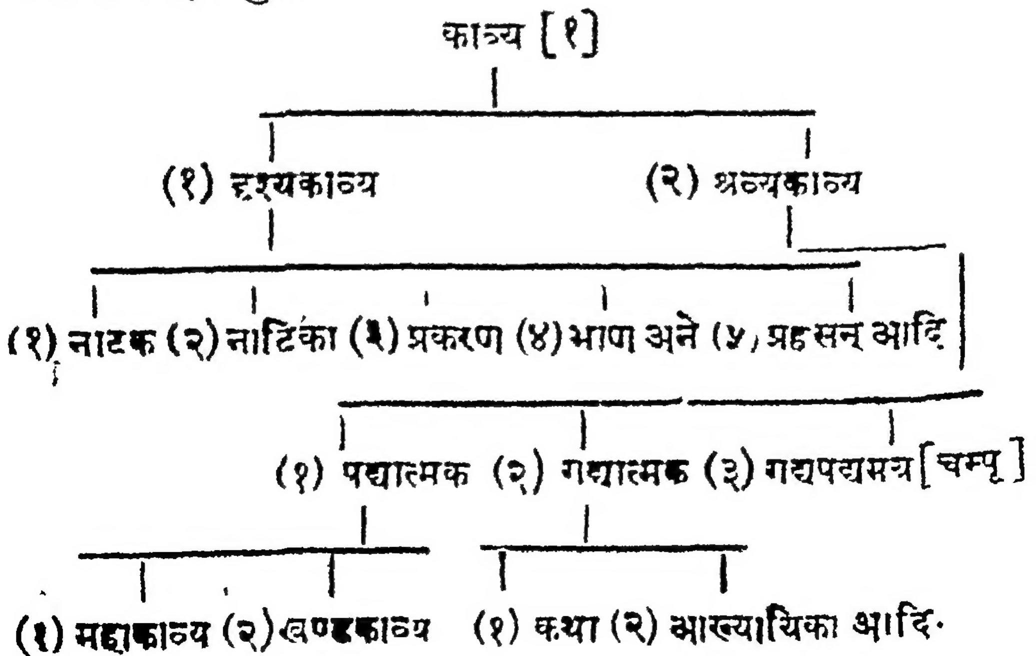
(१) पद्यात्मक, (२) गद्यात्मक, अने (३) गद्यपद्यमय।

ए त्रणे श्रव्यकाव्यमां (१) 'पद्यात्मक काव्य' महाकाव्य अने खण्डकाव्य एम बे विभागमां वहेंचायेल छे।

(२) गद्यात्मक काव्यना कथा अने आख्यायिका आदि भेदो प्रसिद्ध छे।

(३) 'गद्य-पद्यमय काव्य' चम्पू शब्दथी सम्बोधाय छे, अर्थात् चम्पू तरीके तेनो व्यवहार कराय छे।

एक ए भेद-प्रभेद वाला काव्यनुं कोष्टक नीचे प्रमाणे जणावाय छे। जुओ—



महाकाव्य अने खण्डकाव्य सम्बन्धि विचारणा—

उपरोक्त कोष्टकमां काव्यना दृश्यकाव्य अने श्रव्यकाव्य ए बे भेद जणाववामां आव्या। तेमां श्रव्यकाव्यना पद्यात्मक भेदना महाकाव्य अने खण्डकाव्य ए बे भेद पण बताववामां आव्या।

महाकाव्य एटले—

जेमां वीररस शान्तरस के शृङ्गाररस ए त्रणे रसमांथी कोइ पण एक रसनी प्रधानता होय एटलुं ज नहीं प्रसंगे प्रसंगे विविध रसोनुं पण पोषण होय, मुख्य तरीके एक नायक होय, देशादिकनुं सुन्दर वर्णन होय अने आठथी वधारे सर्ग होय। कोई पण एक सर्गमां भिन्न भिन्न छन्दो होय, यमक होय, चक्रबन्ध-खड्गबन्ध-धनुर्बन्ध इत्यादि बन्धो होय, तथा प्रारम्भथी पूर्णाहुति पर्यन्त वांचता वाचक वर्गने विरसपणुं न थाय ते रीते जे होय तेने 'महाकाव्य' कहेवामां आवे छे।

खण्डकाव्य एटले—

जेमां महाकाव्यना एक देशने अवलम्बीने जे रचना करवामां आवे ते. अर्थात् महाकाव्यना कोइ पण एक प्रसङ्गने पृथग् करी सुन्दर रीते वर्णन करवामां आवे तेने 'खण्डकाव्य' कहेवामां आवे छे। आज वातनुं समर्थन करता खण्डकाव्यना लक्षणमां पण कह्युं छे के—

'खण्डकाव्यं भवेत् काव्य-स्यैकदेशानुसारि।'

महाकाव्यना एक देशने अनुसारे जे रचना ते खण्ड-काव्य कहेवाय छे।

शीलदूत काव्यनी रचना—

खण्डकाव्यमां रचायेला अनेक ग्रन्थो आजे पण विद्यमान छे। तेमां महाकवि कालीदास कृत मेघदूत काव्य अति प्रसिद्ध छे। ए

मेघदूत काव्य हिन्दुस्तानना प्रत्येक प्रदेशना पण्डितोने प्रजा उपरांत युरोप अमेरिकाना विद्वानो अने प्रजानुं पण खूब ज आकर्षण कर्युं छे।

दूत एटले सन्देश लई जनार व्यक्ति, जेम के मेघदूत। ए मेघदूतनुं अनुकरण अनेक विद्वानोए करेल छे। जुओ—

(१) वि० सं० ८७१ मां श्रीजिनसेनाचार्ये 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य रचेल छे। जेमां श्रीपार्श्वनाथ प्रभुनी स्तुति छे।

(२) सांगणना पुत्र विक्रम कविए 'नेमिदूत' काव्य रचेल छे। जेना श्रीनेमिनाथ भगवाननी स्तुति छे।

'पवनदूत' काव्य, 'मनोदूत' काव्य तथा 'हंससंदेश' आदि जुदां जुदां दूत काव्यो पण छे।

प० पू० शासनसम्राट् समुदायना समर्थविद्वान् सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीमद् विजयधर्मधुरन्धरसूरिजी नुं मुनिअवस्थामां वि० सं० १९९२ नी सालमां रचेलुं 'मयूरदूत' खण्डकाव्य पण स्वोपज्ञपञ्जिकाटीका युक्त विद्यमान छे।

प्रस्तुत 'शीलदूत' काव्य पण बृहत्तपागच्छनायक आचार्य श्रीरत्नसिंहसूरीश्वरजी महाराजना शिष्य रत्न उपाध्याय श्रीचारित्ररत्न सुन्दरगणिए वि० स० १४८४ [१४८७] नी सालमां रचेल छे।

महाकवि कालीदास रचित मेघदूत काव्यना प्रत्येक श्लोकनुं चोथुं चरण कायम राखी शीलदूत काव्यना प्रत्येक श्लोकनां त्रण चरण नूतन बनाव्यां छे। मेघदूतनी जेम मन्दाक्रान्ता छन्दमां १३१ श्लोकमां सुन्दर रचना करेल छे। तेमां चौदपूर्वधर दुष्कर दुष्कर कारक काम विजेता श्री स्थूलभद्रजी महाराज अने कोशावेश्यानुं वर्णन सुन्दर रीते वर्णवेल छे।

शीलदूत काव्य पर सुशीला टीकानुं सर्जन–

卐卐

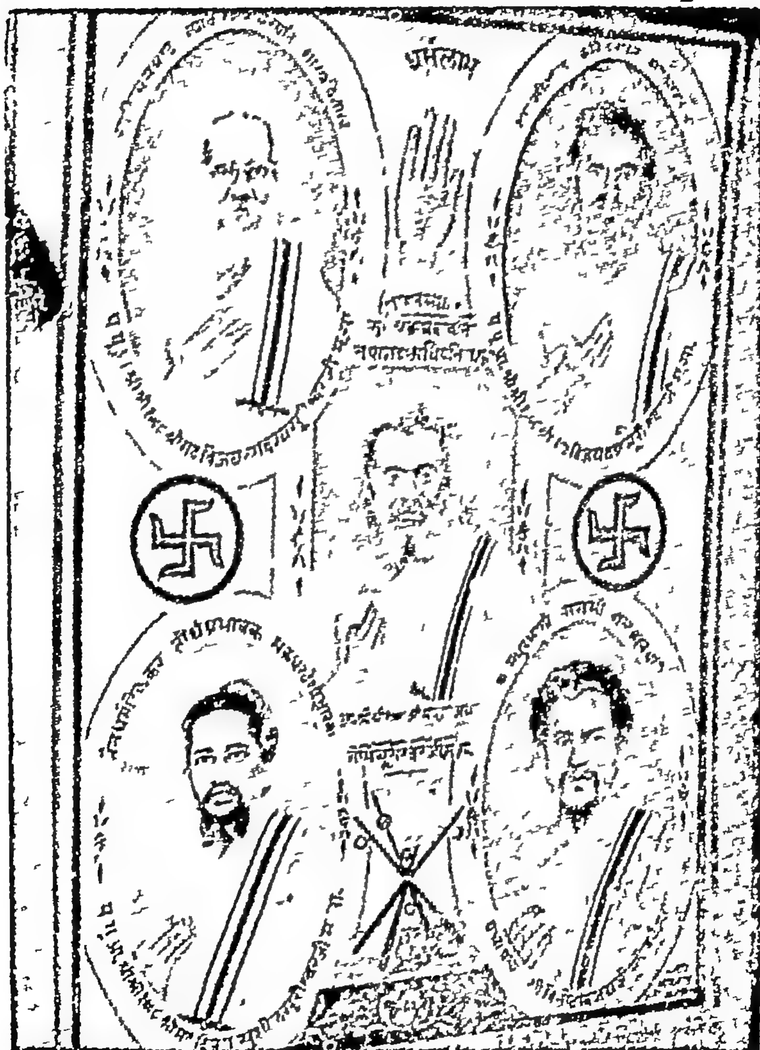
'श्रीयशोविजय जैन ग्रन्थमाला' ना १८मां नंबर तरीके बनारसथी प्रकाशित थयेल 'शीलदूत' काव्यनी पुस्तिका दृष्टिगोचर थई। मन्दाक्रान्ता छन्दमां रचेल १३१ श्लोको श्रीस्थूलभद्रजी महाराजा अने कोशा वेश्याना वर्णन रूपे जोया। सुन्दर लागतां तेना पर नूतन टीका लखवानुं मन थयुं। तीर्थङ्कर चरित्रनुं कार्य पूर्ण कर्या बाद, प्रस्तुत शीलदूत काव्य पर नूतन टीका लखवानी शरुआत करी। वि० सं० २०२४ ना रामसेनना चातुर्मासमां विजया-दशमी–आसो शुद दशमे ए सुशीला नामनी नव्य टीका परमाराध्य देव-गुरुना पसाये पूर्ण करी। जेनो उल्लेख अन्तिम प्रशस्तिमां कर्यो छे। ए टीका युक्त प्रकाशित थयेल आ शीलदूत काव्य संशोधन पूर्वक छपावेल छे, छतां पण प्रेसदोषादि कारणे रही गयेल अशुद्धि सुधारीने वांचकगण वांचे अने श्री स्थूलभद्रजी महाराजे कामदेवना घरमां

रही कामदेवने जीत्यो अने कोशा वेश्या ने द्वादशव्रत-धारिका धर्मनिष्ठा श्राविका बनावी इत्यादि सद्बोध हृदयमां उतारी, जिनशासनना अनुरागी बनी ब्रह्मचर्यरूप शीलव्रतने धारण करी प्रांते परब्रह्मरूप मोक्ष सुखना भागी बने एज शुभ कामना।

श्री वीर सं० २५०४
विक्रम सं० २०३४
नेमि सं० २९
महा शुद १० शुक्रवार
[श्रीनमिनाथ जिनमन्दिर अञ्जनशलाका-प्रतिष्ठादिवस]
दिनाङ्क १७-२-१९७८

विजयसुशीलसूरि
जैन उपाश्रय
खौड, जिला पाली (मारवाड़)
राजस्थान.

卐 वन्दनीया गुरुदेवाः 卐



प्राक् कथन

विक्रम संवत् शरु थतां पहेलां अनें भगवान महावीर-स्वामिना निर्वाण पछीना लगभग बसो वर्ष एटले आजथी लगभग त्रेवीशसो वर्ष पहेलांनी आ सत्य घटना—बृहत्-तपागच्छाधिपति भट्टारकाचार्य श्रीमद् रत्नसिंहसूरिवरना शिष्य उपाध्याय श्रीचारित्रसुन्दर गणिवरे शीलदूत रूपे रची छे।

कविओमां जे श्रेष्ठपदथी विभूषित बन्या छे तेवा कवि-श्रेष्ठ कालिदास रचित मेघदूत काव्य के जे काव्य सरस्वती ना प्रसादने पामतां स्वयं स्फुरणारुप बनेल छे। जेमां मेघने दूत बनावी कविए पोताना भावोनी अभिव्यक्ति करी छे अने मुख्यत्वे विप्रलंभ शृंगारनुं पोषण कर्युं छे। "उपमा कालीदासस्य" आ उक्तिनी अत्यन्त सार्थकता आ खंडकाव्यमां भरचक भरी छे।

आवा अति श्रेष्ठताने वरेला मेघदूत काव्यना दरेके दरेक पद्य-श्लोकना अन्तिम चरणने समस्यारुपे लइने कविए महाभोगमांथी महात्यागी बनेला श्रीस्थूलभद्रजी महाराज अने रुप ने कलाना भंडार समी कोशा (रुपकोशा) नो काव्यरूपे सुन्दर संवाद आप्यो छे अने विप्रलंभ शृंगारनी

लग्याए शील (सदाचार) ने श्रेष्ठताने शिखरे पहोंचा-
डेल छे ।

कोशा वेश्याए आर्य श्रीस्थूलभद्रजी महाराजने अनेक प्रकारना हावभावो, अनेक प्रकारनी शृंगार रसपोषक युक्ति-प्रयुक्तिओ-प्रलोभनो, अनेक प्रकारना अतिमिष्ट वचनो थी गृहस्थाश्रम-मंत्रिपद भोगोनी सानुकूलता अने परिणामे धर्मप्राप्ति माटेनी विनंतिओ करी । ते बधाना प्रत्युत्तररुपे आर्य श्रीस्थुलभद्रजी महाराज जणावे छे के–

"निरागं मे समजनि मनो ज्ञाततत्त्वस्वरूपं,
तेनेदानीं च विषयरसो बाधते कुत्रचिन्माम् ।
पश्याभ्येनामपि वनसमां चित्रशालां खलूच्चै,
र्यामध्यास्ते दिवस विगमे नीलकराठः सुहृद्भः ॥"

'चित्त जो रागयुक्त होय तो विषयना आस्वादनो अभिलाष उत्पन्न थाय छे चित्रशाला होय के वन होय बंने समान दृष्टि जेने आवी गइ होय तेना मनमां विषयनो अभिलाष ज क्यांथी होय ! प्राणी रागी त्यां सुधी ज होय छे के ज्यां सुधी वस्तु तत्त्वनो वास्तविक परिचय थयो न होय ।

वास्तविक वस्तु तत्त्वने जाण्या पछी रागदशानो संभव ज नथी ।

"यत्तारुण्ये सति वपुरहो ! विभ्रमं भूरि दत्ते,
पुष्टं मुग्धे ! सरसमधुराहार योगेण शश्वत् ।
अन्यादृक् स्यात् तदपि च गते यौवने देहभाजां,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥"

'अनेक प्रकारनां अनुकूल भोजन विगेरेथी पोषेलुं अने वधारेलुं पण आ शरीर यौवनवाळुं होय त्यां सुधीमां जे विलासादि प्रगट करे छे ते यौवन गया पछी नथी करतुं । दाखला तरीके कमल सूर्यनी समीपतामां ज पोतानी शोभा धारण करे छे सूर्य जतां ए पण करमाइ जाय छे एटले आ शरीर अस्थिर छे, जेथी आ शारीरिक भोगोनी मने इच्छाज नथी ।'

"मत्वाऽनित्यं जगदिति मनो मे विलग्नं जिनोक्ते,
धर्मे शर्माभिलषति परं शाश्वतं शुद्धचित्ते ।
मुग्धे स्निग्धां रचयति मुधा मामुदीक्ष्य स्वकीयां,
खद्योताली विलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥"

'आटला काल सुधी मारी साथेनी वातचीतथी तारुं पण चित्त शुद्ध थयुं होय एम मने लागे छे तेथी धर्ममां रक्त मारा चित्तमां तारा जोवाथी कोइ विकार थतो नथी जेथी तारे पण बीजा भावथी विलोकन उचित नथी आथी

तारी चेष्टा पण फोगट छे, जेम आगीयानो वधारे पडतो विकास थाय तो पण प्रकाश मलवा रुप कंइ अर्थ सरतो नथी; एम हवे तारु विलोकन पण फोगट

आवा आवा अनेकविध वचनामृतोथी पोताना वैराग्यनी अतिदृढता जणावी छे ।

आ रीते आ **शीलदूत** खण्ड काव्य होवा छतां महाकाव्यरूप छे । तेमां रहेला गूढार्थनी अभिव्यक्ति करती **'सुशीला'** नामनी टीका छे । जेना रचयिता—

शासनसम्राट् सूरिचक्रचक्रवर्त्ति तपागच्छाधिपति ब्रह्मतेजोमूर्त्ति महाप्रभावशालि अनेकतीर्थोद्धारक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र परमपूज्याचार्यमहाराजाधिराज **श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज साहेबना** सुप्रसिद्ध पट्टालंकार साहित्यसम्राट् व्याकरणवाचस्पति शास्त्रविशारद कविरत्न परमपूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वरजी महाराज साहेबना** पट्टधर व्याकरणरत्न शास्त्रविशारद कविदिवाकर देशनादक्ष परमपूज्याचार्य **श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वरजी महाराज साहेबना** पट्टधर अनेक ग्रन्थ प्रणेता अतिसौम्यभाव विभूषित अनेकविधशास्त्ररहस्यविद् परमपूज्याचार्य **श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी महाराज साहेब** छे ।

पूज्यश्रीए श्लोकनो अन्वय, श्लोकमां रहेली गूढता जणावाती व्याख्या, व्याकरणदृष्टिए प्रयोगसिद्धि रस भाव

अलंकार वगेरे जणाववा साथे मेघदूत काव्य साथेनी आ काव्यनी संगति करी आपी छे एटलुंज नहीं पण तेमांथी नीकलतो विशेषार्थ पण काढी आप्यो छे। आवी विशिष्ट प्रकारनी ते तेओश्रीनी व्याकरण काव्य साहित्य विगेरेनी विशिष्ट कोटिनी अभ्यासशीलता अने पठन पाठननी विशिष्ट प्रकारनी शैलिने जणावनारी छे।

अहीं मने एक अमारो पोतानो ज भूतकालीन प्रसंग याद आवे छे के—

शेठ श्री वेणीचंद सुरचंद स्थापित श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला–महेसाणाना मेनेजर पदे विराजमान प्रखरतत्त्ववेत्ता पंडितप्रवर **श्री प्रभुदासभाइनी** संस्थामां अभ्यास करता विद्यार्थीओमां उच्च अभ्यास कराववानी अने ए रीते शासनसेवानी तमन्नाए संस्था तरफथी मने तथा मारा सहाध्यायी पंडितवर्य श्री **शिवलालभाइ** (वर्त्तमान पं० श्री केसरबाइ ज्ञानमन्दिर-पाटण) ने व्याकरणशास्त्रना प्रकाण्डवेत्ता परमपूज्य आचार्यदेवेश **श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वरजी महाराज साहेब** पासे कलिकालसर्वज्ञ भगवान् **श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराज** विरचित **श्रीसिद्धहेमव्याकरणनुं** अध्ययन करवा माटे तेओश्रीना वि० सं० १९९५ ना श्रीझगडीयाजीतीर्थ ना चातुर्मास मां मोकलेला।

परमपूज्य आचार्यभगवंतनो नादुरस्त तबीयत होवा छतां अने अनेक धनिक-धार्मिक भावुकोनुं आवागमन होवा छतां अध्यापन करावावाना समये अध्यापनमां एवा तल्लीन बनी जता के ते वखते तेओश्री शारीरिक अस्वस्थताने भूली जता एटलुंज नहीं गमे तेवा धनिक-क्रोडपति भावुक आव्या होय तो पण तेओश्री तेमने पूछी लेता के रहेवाना छो ने ? कहे के रहेवानुं छे तो तेओश्री कहीज दे के-पाठ थइ गया पछी मलशो अने नथी रहेवानुं एम कहे तो पण एकज सेकंडमां तेमनी वातने (असंतोष न थाय तेटला पूरतुं) सांभली अध्यापनमां तल्लीनपणे लागी जाता ।

आ जातनो तेओश्रीना शिष्य-प्रशिष्यमां सुन्दर वारसो प्राप्त थयो होय तेम **सुशीला टीका ना रचनार प० पू० आ० श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरजी महाराज साहेब** पण शासनप्रभावनानां अनेकविध कार्यो सामे होवा छतां अध्यापन अने ग्रन्थ रचनामां एटला बधा ओतप्रोत थइ जाय छे के जाणे अविरत चिंतन-मनन करतां ज जोवामां आवे ते तेओश्रीनी विद्वत्ता अने तल्लीनता अति अनुमोदनीय छे ।

त्रेवीशसो वर्ष पहेलांनी आ एक अद्वितीय सत्य घटना माटे तो वधारे शुं कहीए !

काव्य ज वांचवुं रह्युं । वली आ घटनाने साक्षरवर्य **श्री मोहनलाल चुनीलाल धामी** ए "**रूपकोशा**" नामना बे विभागमां सुन्दर ओप आपेल छे ।

आर्य स्थूलभद्रने पूछवामां आवे छे के—

'अनेकविध श्रृङ्गार रसभर चित्र युक्त चित्रशाला, नित्य आह्लादक षड्रस भोजन, रुपगर्विता अने कला-गर्विता रुपसुन्दरीना हृदयनी उर्मिओ पूर्वकना हावभाव अने चित्तने वींधी नाखे तेवुं कलापूर्ण नृत्य।

आ बधुं सामे होवा छतां तमने कामनो जरा पण आवेग केम आवतो नथी।'

तेना जवाबमां आर्य स्थूलभद्रजी महाराज जणावे छे के—

'मा गमे तेवी रुपशालिनी होय के कलाशालिनी होय तेना अंग प्रत्यंगोमां काम भरपूर भर्यो होय अने नग्न थइने स्नान करी रहेल होय तेवा समये पण तेना खोलामां बेठेला बालकने जरा पण कामनो आवेग आवतो नथी तेवीज गुरु-प्रसादी रूपे मलेला आत्मिक अनुभव अने ज्ञान प्राप्त कर्या पछीनी मारी स्थिति समजो।' एटलाज माटे आ काव्यनुं कर्त्ताए 'शीलदूत' नाम अति सार्थक्य जणावतुं आपेलुं होय एवुं भासमान थाय छे। आ बधो वास्तविक आस्वाद लेवा माटे काव्य ज वांचवुं रह्युं एटले आ काव्यने संस्कृतना पठनपाठनमां आवकारवा तेना ज्ञाताओने विनंति करुं छुं।

पूज्यश्रीए मने आ विशिष्ट प्रकारना ग्रन्थनुं प्राक्कथन' लखवा आज्ञा करी मारा उपर साहित्य सेवाने

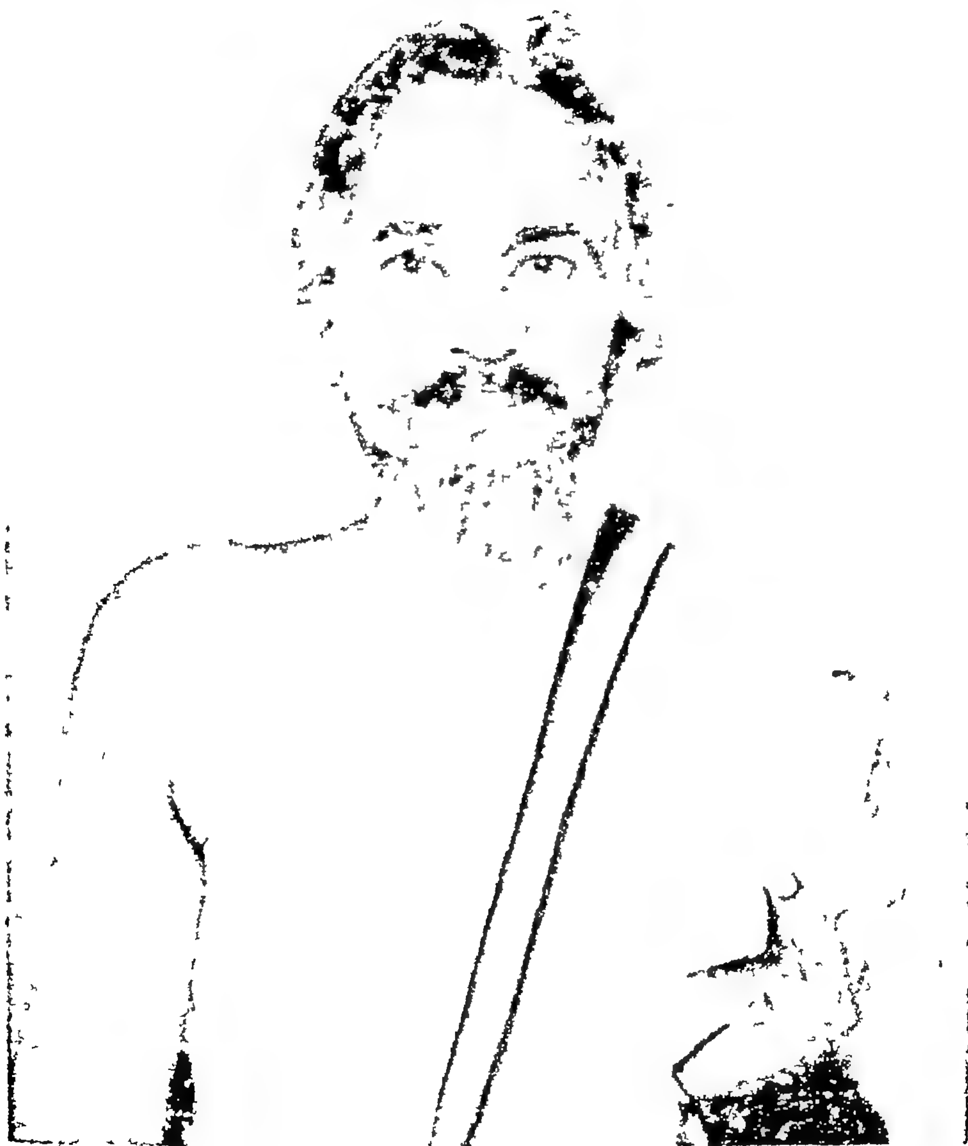
लगतो महान् उपकार कर्यो छे अने महापुरुषोना हैयामां मारा जेवानो वास मलवा माटे हुं मारा आत्माने धन्यातिधन्य मानुं छुं। पण मारामां लखवाने लगती विद्वत्तानो अभाव अने सांसारिक अनिवार्य फरजोनी अटवामणने लीधे में पूज्यश्रीने लखवा माटेनी मारी अशक्ति जणाववा छतां तेओश्रीनुं मारा उपर प्रेमबाहुल्य दबाण आवतां मारे संयोगोनी प्रतिकूलतामां पण लखवुं ज पड्युं छे। जेथी वांचको आ लखाणमां मारी थयेली अनेक क्षतिओने सुधारी तेमांथी नीकलतो सार-भाव ग्रहण करवानी उदारता करी मारा उपर महेरबानी करशे एवी ज हार्दिक विनंतिपूर्वक विरमुं छुं।

श्री वीर सं० २५०४
विक्रम सं० २०३४
फागण शुद २
शनिवार
[श्रीस्थंभनपार्श्वनाथनो ५० मो सुवर्णजयन्ति महोत्सव.]
दिनाङ्क
११-३-१९७८

ली० नम्र सेवक—
छबीलदास केशरीचंद संघवी
[शेठ श्री केशवलाल बुलाखीदास संचालित
श्री भट्टीबाइ स्याद्वाद संस्कृत प्राकृत पाठशाला अने श्रीललिता बेन केशवलाल स्वाध्याय मन्दिर ना प्रधान अध्यापक]
दादा साहेब पोल, खंभात
गुजरात.

—:o:—

श्रीजैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न-तीर्थप्रभावक-राजस्थानदीपक-मरुधर-
देशोद्धारक-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न कविभूषण-बालब्रह्मचारी



परमपूज्याचार्यदेव श्रीमद् विजय
सुशीलसूरीश्वरजी महाराज.

कामविजेता
आर्य श्रीस्थूलभद्रजी महाराज का संक्षिप्त जीवन-परिचय

"भूर्ज नभो लेखनिका सुमेरुः,
सिन्धुर्मषी भाजनमेव पूर्णाम्।
चेल्लेखको लेखपति स्तदा स्यात्,
संख्या गुणानां शकटाल सूनोः ॥१॥"

अर्थात्—

'यदि आकाश का कागज बनाया जाय, उत्तम मेरु-पर्वत की लेखनी बनायी जाय, सागर की दवात बनायी जाय और सुरपति स्वयं लिखने को बैठे तब तो शकटाल पुत्र श्रीस्थूलभद्रजी के गुणों की गणना हो सकती है, अन्यथा उनके गुणों की गणना करना असम्भव है ॥१॥'

प्रस्तुत यह 'शीलदूत' काव्य के मुख्य पात्र गौतम गोत्रीय आर्य श्रीस्थूलभद्रजी महाराज है। वे माढर गोत्रीय स्थवीर आर्य श्रीसम्भूतिविजय महाराज के शिष्यरत्न थे। श्रुतकेवली और चौदहपूर्व के ज्ञाता थे।

उनका 'संक्षिप्त जीवन-परिचय' इस प्रकार है—

प्राचीनकाल में पाटलीपुत्र (वर्तमान पटना) नामक एक सुप्रसिद्ध नगर था।' उस नगर के राजा का नाम नंद और मन्त्री का नाम शकटाल था। शकटाल मन्त्री को लाछलेदे (लक्ष्मीवती) नामक पत्नी से स्थूलभद्र और श्रीयक नामक दो पुत्र तथा यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा नाम की सात पुत्रियाँ थी।

उस नगर में कोशा नामक एक प्रसिद्ध वेश्या रहती थी। किसी पूर्वजन्म के संस्कारों से शकटाल मन्त्री का बड़ा पुत्र स्थूलभद्र बाल्यावस्था से ही इस कोशा वेश्या के प्रेम जाल में फँस गया था। वह रातदिन उसीके यहां रहता था। इस तरह उसने बारह वर्ष कोशा वेश्या के घर में बिताये।

वररुचि विप्र के षड्यन्त्र से एक दिन अचानक उसके पिता शकटाल मन्त्री की मृत्यु हो गयी। नन्दराजा अपने मन्त्री की इस आकस्मिक मृत्यु से बहुत ही दुःखित हुए। बाद में उन्होंने श्रीयक को बुलाकर अपने पिता का पद ग्रहण करने को कहा। उसने कहा कि—हे राजन्! इस पद के वास्तविक अधिकारी मेरे वडील बन्धु श्री स्थूलभद्रजी हैं।

उसी समय कोशा वेश्या के घर से स्थूलभद्र को बुलाकर राजाने उससे अपने पिता का पद ग्रहण करने को कहा।

स्थूलभद्रने कहा कि–'हे राजन् ! मैं इस विषय का विचार करके आपको प्रत्युत्तर दूंगा । इसके लिये मुझे कुछ समय दीजिये ।'

राजाने कहा–'मैं तुम्हें विचार करने के लिए एक घण्टे का समय दे सकता हूं । इतने ही समय में तुम मुझे अपना निर्णय सूचित कर दो ।'

यह सुनकर स्थूलभद्र समीप के एक बगीचे में जाकर इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने लगा । अन्त में यह सोचा कि–जिस मन्त्री पद से पिता की मृत्यु हो गइ है वो पद मेरे को नहीं चाहिये । मैं अपने जीवन का बहुत ही समय सांसारिक सुखों का रसास्वादन करने में बिता चुका हूँ । अब मैं आत्मकल्याण करने के लिये संयम के पूनित पन्थ में प्रयाण करुंगा ।

इस विचार पर वह अचल और अटल रहकर उसने उसी समय लोच करके साधुवेश धारण कर लिया । उसी वेश में राजसभा में उपस्थित होकर उसने 'मया लोचितम्' (अर्थात् मैं आलोच–विचार कर आया हूँ) कहते हुए समस्त सभाको धर्मलाभ रूपी शुभाशीष दी ।

यह दृश्य देखकर सब लोग आश्चर्य में गरकाव हो गये । खुद राजा नन्दने भी सोचा कि स्थूलभद्र तो संसार

को छोड कर साधु बन गया है, अतः यह मन्त्री पद स्थूल-भद्र के छोटे भाई श्रीयक को ही देना उचित है। ऐसा सोचकर उन्होंने श्रीयक को मन्त्री पद पर नियुक्त किया।

इधर मुनिवेष में श्रीस्थूलभद्रमुनि विहार द्वारा आर्य श्रीसम्भूतिविजय आचार्य महाराज के पास जा कर विधि-पूर्वक दीक्षा ग्रहण की। नूतन श्रीस्थूलभद्रमुनि आचार्य महाराज के शिष्य बने और संयम की सुन्दर आराधना करते रहे। एक बार वर्षाऋतु का समय निकट आने पर आर्य श्रीसम्भूतिविजयाचार्य महाराज के चार समर्थ शिष्यों ने भिन्न भिन्न स्थानों में जाकर अभिग्रहपूर्वक चातुर्मास करने का विचार किया। इस कार्य के लिये पूज्य गुरुदेव आचार्य महाराज की आज्ञा प्राप्त करना अत्यावश्यक था। इसलिये सर्व प्रथम एक शिष्य ने आकर कहा—भवोदधितारक पूज्य गुरुमहाराज! मेरी इच्छा है कि मैं सिंह की गुफा के द्वार पर जाकर, उपवासी होकर कायोत्सर्ग करते हुए वर्षा-ऋतु का चातुर्मास व्यतीत करूं।

इसके लिये आप मुझे आज्ञा प्रदान कर कृतार्थ कीजिये।

उसी माफिक दूसरे शिष्यने भी कहा—

'आराध्यपाद पूज्य गुरुभगवन्! मेरी इच्छा है कि मैं भी चार मास उपवास कर सर्प के बिल के समीप कायोत्सर्ग पूर्वक वर्षाऋतु का चातुर्मास व्यतीत करूं'।

उसी तरह तीसरे शिष्यने भी कहा—

पूज्यपाद आचार्यगुरुदेव! मेरी इच्छा है कि मैं भी चार मास तक उपवास करके कुएँ की पाल पर कायोत्सर्ग करते हुए वर्षाऋतु का चातुर्मास व्यतीत करूँ।

तीने शिष्यों की यह बातें सुनकर और उनकी योग्यता का विचार कर आर्य श्रीसम्भूतिविजयाचार्य महाराजने सानन्द वैसा करने की आज्ञा दे दी। सुनकर उन शिष्यों को अत्यन्त आनन्द हुआ।

इसी समय वहाँ श्रीस्थूलभद्र मुनिवर भी आ पहुँचे। उन्होंने भी निवेदन करते हुए कहा—

'महाज्ञानी पूज्य गुरुदेव! मेरी इच्छा है कि मैं कोशा वेश्या के घर जाकर, उसकी चित्रशाला में रहकर; पट् रस भोजन करते हुए वर्षाऋतु का चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे आज्ञा देकर कृतार्थ कीजिये।'

गुरुदेवने कहा—

'महानुभाव! तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण विश्वास है। इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि अपनी इच्छा याने अभिग्रह पूर्ण करने के लिये सहर्ष प्रस्थान करो।'

गुरुदेव के यह उत्साह पूर्ण वचन सुनकर श्री स्थूलभद्र-मुनिने पुनः एक बार पूज्य गुरुदेव को वन्दन किया और

उनकी सानंद आज्ञा प्राप्त कर कोशा वेश्या के निवास-स्थान की ओर प्रस्थान किया।

मुनिवेष में रहे हुए श्री स्थूलभद्रजी को अपने घर की ओर आते देखकर कोशा वेश्या के आनन्द का पार न रहा। वह उनका स्वागत करने के लिये अपने घर से बाहर खड़ी रही।

आर्य श्रीस्थूलभद्र महामुनि ज्योंहि वहां पहुँचे, त्योंही उसने अति प्रेम से उनका स्वागत किया।

फिर कोशा वेश्याने कहा–

'पधारिये, पधारिये, महामुनि पधारिये!'

मुनिवेष में भी आपने इस दासी को याद किया यह मेरे परम सौभाग्य का विषय है। आपके पदार्पण से इस दासी का निवास स्थान आज पावन हो गया और मैं भी आपके दर्शन से कृतार्थ बनी। यह आपकी पूर्ण कृपा का ही फल है।

अब मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मेरे लिये क्या आज्ञा है?

श्रीस्थूलभद्र मुनिने कहा–'भद्रे! मैं तुम्हारी चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत करने के लिये आया हूँ। यहां निर्विघ्न-रूप से मेरे चारित्र का निर्वाह हो शके ऐसा प्रबन्ध करदो।

कोशा वेश्याने कहा—

'महात्मन् ! मेरी चित्रशाला क्या, यह समस्त भवन ही आपका है इतना ही नहीं, मैं भी आप ही की हूं । मेरी विनंति है कि आपकी इच्छानुसार चित्रशाला में आनन्द से रहकर चातुर्मास कीजिये ।'

महात्मा श्रीस्थूलभद्रमुनिने कोशा वेश्या की चित्रशाला में ही अपना डेरा डाल कर चातुर्मास किया । इधर कोशा वेश्या अपने मनमें सोचने लगी कि—यह स्थूलभद्रजीने संसार छोड कर दीक्षा तो ले ली, किन्तु वे पालने में असमर्थ हैं ! इसी लिये चातुर्मास के बहाने वे यहां भोग-विलास करने को आये हैं । इस प्रकार विचार कर सुन्दर वस्त्रालङ्कार से अलंकृत होकर कोशा वेश्याने एक दिव्य नर्तकी का रूप धारण किया । बाद में साक्षात् रति के समान हाव-भाव करते हुए उसने अपनी चित्रशाला में प्रवेश कर मुनिवर को संयम से भ्रष्ट करने के लिये विविध प्रकार के प्रयत्न प्रतिदिन करने लगी, लेकिन श्रीस्थूलभद्र मुनि सर्वदा संयम में स्थिर रहे । अनेक प्रकार के अत्यन्त हाव भाव पूर्वक सुन्दर नृत्य और संगीत करनेवाली कोशा वेश्या को भी अन्तमें प्रतिबोधी देश विरति से समलंकृत की । चातुर्मास के बाद विहार कर जब गुरु महाराज के पास आये तब गुरुदेवने भी उठकर संघ के समक्ष श्रीस्थूल-

भद्र महामुनि को "दुष्कर दुष्कर कारक" कह कर सन्मानित किया।

सिंह गुफा के पास, सर्प की बील के पास और कुवे की पाल पर चातुर्मास करनेवाले तीनों मुनियों को 'दुष्कर-कारक' कह कर सन्मानित किया।

पूज्य गुरुदेव का यह वचन सुनकर वे तीनों मुनियों को अत्यन्त दुःख हुआ। उनमें से दूसरे चातुर्मास में सिंह-गुफा वासी मुनि श्रीस्थूलभद्रजी की ईर्षा से पूज्य गुरुदेव के निषेध करने पर भी वह कोशा वेश्या के घर पर जाकर चातुर्मास रहे। कोशा का दिव्य रूप देखकर उन मुनिका चित्त चलित हो गया। उस कोशा वेश्याने नैपाल देश से यही मुनि द्वारा रत्नकम्बल मंगवाकर उसे गटर में फेंक कर उस मुनिको प्रतिबोध कर संयम में स्थिर किया।

वे मुनि पुनः पूज्य गुरुदेव की पास आकर सर्व प्रथम अपने कुविचारो की आलोचना लेने के बाद में कहने लगे कि—'हे पूज्य गुरुदेव! सचमुच ही सर्व साधुओं में श्रेष्ठ तो स्थूलभद्र एक ही है। उसको आपने दुष्कर दुष्कर कारक कहा है वह युक्त ही है।'

एक समय का जिक्र है कि पाटलिपुत्र नगर का नरेश नन्द अपने रथवान पर अति प्रसन्न हुआ और कुछ मांगने

को कहा। उसने कोशा वेश्या की मांगणी की, राजाने स्वीकार किया। हर्षित होकर रथवान कोशा वेश्या की पास जाकर कोशा को अपनी होशीयारी बताने लगा। एक बाण के मूल भागमें दूसरा बाण मारकर फिर उस के मूल भागमें तीसरा बाण छोडा। इस तरह कितनेक बाणों छोड-कर वहां बैठे हुए आम्रवृक्ष में रही हुई आमों की लुम्ब तोडकर कोशा को दिया और इस कार्य का गर्व करने लगा, लेकिन कोशा को इस पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। इनका गर्व उतारने के लिये कोशाने सरसव के दाणों का एक ढेर करवाकर और उस परसुईयां खडी कर उन पर पुष्प (फूल) रखकर उस पर स्वयं नृत्य करती हुई और गीतगान गाती हुई वह बोलने लगी—

न दुक्करं अंबयलु बितोडणं,
न दुक्करं सरिसवणाच्चि याए।
तं दुक्करं जं च महाणुभावं,
जं सो मुणी पमयवणंमि वुच्छो॥ १ ॥"

अर्थात्—'आम की लुम्ब को तोडना यह कोई दुष्कर नहीं, एवं सरसव पर नृत्य करना यह भी कोई दुष्कर नहीं, किन्तु वही दुष्कर है जो उस महानुभाव

[श्रीस्थूलभद्रजी] मुनिने नारी रूप वनमें मूर्छित न होकर कर बतलाया है ।" (१)

इस बात की पुष्टि में श्रीस्थूलभद्रजी महाराज की स्तुति करते हुए कविने कहा हुआ है कि—

"गिरेः गुहाया विजने वनान्तरे,
वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः ।
हर्म्योतिरम्ये युवती जनान्तिके,
वशी स एकः शकटाल नन्दनः ॥ १ ॥

अर्थात्—'पर्वत, गुफा और निर्जन वनमें निवासकर इन्द्रियों को वश करनेवाले हजारों मुनिओं होंगे, किन्तु अत्यन्त मनोहर महेल [भवन, गृह] में सुन्दर स्त्री के पास रहकर इन्द्रियों को वश करने वाला अर्थात् कामदेव को पराजित करनेवाला कोई हो तो वह शकटालनन्दन [महात्मा श्रीस्थूलभद्र] ही हैं ।' (१)

"योऽग्नौ प्रविष्टोऽपि नैव दग्ध-
च्छिन्नो न खड्गेन कृत प्रचारः ।
कृष्णा हि रन्ध्रे प्युषितो न दष्टो,
नाक्तों जनागार निवास्य हो यः ॥ २ ॥

अर्थात्—'अग्नि में प्रवेश करने पर भी जो जल न सका, सर्प के निवास स्थान में रहने पर भी जो सर्प द्वारा डसा न गया और काजल की कोठरी में रहने पर भी दाग न लगा [ऐसे श्रीस्थूलभद्रजी महाराज वास्तव में महान आश्चर्य पात्र है]' (२)

"वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनं,
शुभ्रं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यो वयः सङ्गमः ।
कालोऽयं जलदाविल स्तदपि यः कामं जिगायादरं,
तं वन्दे युवति प्रबोध कुशलं श्रीस्थूलभद्रं मुनिम् ॥३॥"

अर्थात्—'वेश्या रागवती थी, सदैव उनकी आज्ञा में चलनेवाली थी, जिन्हें षट्रस युक्त भोजन मिलता था, सुन्दर भवन [चित्रशाला] मनोहर शरीर और यौवन अवस्था थी—नव्यवय का मनोज्ञ समागम था, और समय भी वर्षाकालका था, फिर भी जिन्होंने क्षण मात्र में कामदेवको पराजित कर कोशा वेश्या को प्रबोधित किया, उन स्थूलभद्र मुनि को मैं वन्दन करता हूं ।' (३)

"रे काम वामनयना तव मुख्यमस्त्रां,
वीरा वसन्त पिक पंचम चन्द्र मुख्याः ।

त्वत् सेवका हरि विरंचि महेश्वराद्या,
हाहा हताश मुनिनापि कथं हतस्त्वम् ॥ ४ ॥"

अर्थात्—हे कामदेव ! तुम्हारे पास स्त्री रूप प्रधान शस्त्र हैं, वसन्तऋतु, कोयल, पचम राग और चन्द्र ये तेरे मुख्य योद्धा-सुभट हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे सेवक मौजूद होने पर भी तू इस मुनि से [श्रीस्थूलभद्रजी से] कैसे भाग गया ? ।' (४)

हे कामदेव ! तूने संयम में रहे हुए नंदिषेण, रथनेमि और आर्द्रकुमार के समान ही इस मुनि को भी देखा ? यह तो श्रीनेमिनाथ, जम्बूस्वामी और सुदर्शन शेठ के जैसे जितेन्द्रिय नररत्न हैं, इतना ही नहीं श्रीनेमिनाथ भगवान से भी यह शकटाल सुत श्रीस्थूलभद्रजी महाराज अधिक मालूम होते हैं क्योंकि श्रीनेमिनाथ भगवानने तो गिरनार पर्वत पर जाकर मोह को वश किया था लेकिन इन स्थूलभद्रजी महात्माने तो मोह के घर में रहकर मोह का मर्दन किया ।

इसलिये कहा गया है कि—

"श्रीशान्तिनाथाद् परो न दानी,
दशार्णभद्राद् परो न मानी ।

श्रीशालिभद्राद् परो न भोगी,
श्रीस्थूलभद्राद् परो न योगी ॥ ५ ॥"

अर्थात्—'श्री शान्तिनाथ के समान कोई दानी नहीं हो सकता, श्रीदशार्णभद्र के समान कोई मानी नहीं हो सकता, श्रीशालिभद्र के समान कोई भोगी नहीं हो सकता और श्री-स्थूलभद्र के समान कोई योगी नहीं हो सकता।'

यही भारत देश में एक समय बारह वर्षीय दुष्काल के अन्त में श्रीसंघ की साग्रह विज्ञप्ति से श्रुतकेवली श्रीभद्र-बाहुस्वामी महाराज पाँचसौ मुनियों को द्वादशाङ्गी के दृष्टि-वाद की सात वाचना सदैव देते थे। सात वाचनाओं से भी अतृप्त रहते हुए अन्य सभी मुनि उद्विग्न होकर विहार-द्वारा अन्यत्र चले गये। सिर्फ श्रीस्थूलभद्रजी महाराज ही अकेले रह गये। वे दो वस्तु कम दशपूर्व तक पढे। एक दिन वन्दना करने के लिए आई हुई यक्षा आदि सात साध्वीओं को जो संसारी अवस्था में उनकी सगी बहिनें थीं उन्हें कुछ चमत्कार दिखाने के उद्देश्य से श्रीस्थूलभद्रजीने सिंह का रूप धारण कर लिया। सिंह को देखने के साथ साते साध्वीओं भयभित हो गयीं। उन्होंने वहां से वापीस लौटकर हांफते हुए पूज्य गुरुदेव के पास आकर कहा—

'हे प्रभो ! महा अनर्थ हो गया। वहां तो विकराल भयंकर एक सिंह बैठा हुआ है। श्रीस्थूलभद्रजी महाराज का कहीं पता भी नहीं। शायद उन्हें उस सिंहने मारकर खा डाला होगा।

पूज्य गुरुदेवने अपने ज्ञान से देखा कि स्थूलभद्रने ही कुछ चमत्कार दिखाने के लिए सिंह का रूप धारण कर लिया था। उन्होंने यक्षा आदि साते साध्वीयों को धैर्य देकर कहा—'अब जाओ, वहां सिंह नहीं है, स्थूलभद्र वहीं है। उन्हें वन्दना कर आओ।'

यह सुनकर साध्वीयोंने वहां जाकर अपने संसारी अवस्था के बन्धु श्रीस्थूलभद्रजी महाराज को वन्दना कर वापिस लोटी।

इसके बाद श्रीस्थूलभद्रजी महाराज वाचना लेने के लिये श्रुतकेवली पूज्याचार्य श्रीभद्रबाहुस्वामीजी महाराज के पास गये। सिंह का रूप दिखलाने की बात से नाराज हुए श्रीभद्रबाहुस्वामीजी महाराजने स्थूलभद्रमुनि से कहा—

"वाचना के लिये तुम अयोग्य हो, इसलिये अब वाचना न मिलेगी"। अन्त में फिर श्रीसंघ के अत्याग्रह से तुमने अन्यको यह वाचना न देनी' यों कहकर शेष चार [११-१२-१३-१४वें] पूर्वकी मात्र मूलसूत्र की वाचना दी।

तब से आर्य श्रीस्थूलभद्रजी महाराज चौदह पूर्व के ज्ञाता बने। श्रुतकेवली तरीके चौदहपूर्वी कहे गये।

अन्त में अपना अवसान समय समीप में समजकर अपने दो शिष्य आर्य महागिरि और आर्यसुहस्तिगिरि को अपने पद पर स्थापना की और अनशन की आराधना कर समाधिपूर्वक कालधर्म पाकर श्रमण भगवान महावीर प्रभु के निर्वाण बाद २१९ वर्ष स्वर्ग में सिधाये। कामविजेता आर्य श्रीस्थूलभद्रजी महाराज का नाम जैनशासन के इतिहास में चौराशी चौवीशी तक अमर रहने वाला है।

ऐसे सर्वदा मंगल स्वरूप श्रुतकेवली श्रीस्थूलभद्रजी महाराज को हमारा कोटि कोटिशः वन्दन हो।

श्री वीर सं० २५०४
विक्रम सं० २०३४
फागण शुद १४
शुक्रवार
[चौमासी चौदश]
दिनाङ्क
२३-३-१९७८

लेखक—
विजयसुशीलसूरि
श्रीतपगच्छ का जैन उपाश्रय
गुजराती कटला
पाली (मारवाड़) राजस्थान

॥ शुभं भवतु श्रीसङ्घस्य ॥

—:०:—

आर्य श्री स्थूलभद्रजी महाराज

卐卐

(१) जन्मस्थल–पाटलीपुत्र [वर्त्तमाम-पटणा] नगर
(२) पिता –शकटाल [नवमें नन्दराजा के मन्त्री)
(३) माता –लाछलदे [लक्ष्मीवती]
(४) बन्धु –श्रीयक
(५) बहिनें –यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा और रेणा
(६) ज्ञाति –नागरब्राह्मण
(७) गोत्र –काश्यप
(८) गृहस्थावास–३० वर्ष
(९) व्रतधर –२४ वर्ष
(१०) युगप्रधान–४५ वर्ष
(११) ज्ञान –१४ पूर्व तक
(१२) आयुष्य –६६ वर्ष ५ मास और ५ दिन का
(१३) स्वर्गवास–श्रमण भगवान महावीर पीछे २१५ वर्षे

प्रकाशकीय निवेदन

卐

नव्य सुशीला टीका युक्त–'श्रीशीलदूत काव्य' इस नाम से समलंकृत यह ग्रन्थरत्न को आज प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

वि० सं० १४८४ या १४८७ वर्ष में वृहद्तपागच्छीय विद्वान् पूज्य वाचक श्रीचारित्रसुन्दरगणिवरने यह शीलदूत काव्य की खण्डकाव्यरूपे रम्य रचना की है। इस पर स्वर्गीय शासनसम्राट् परमपूज्याचार्यमहाराजाधिराज श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी म० सा० के सुविख्यात पट्टालङ्कार स्वर्गीय साहित्यसम्राट् परमपूज्याचार्यप्रवर श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरजी म० सा० के प्रधान पट्टधर कविदिवाकर परमपूज्याचार्यवर्य श्रीमद्विजयदक्ष-सूरीश्वरजी म० सा० के सुप्रसिद्ध पट्टधर जैनधर्मदिवाकर परमपूज्याचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरजी म० सा० ने सरल संस्कृतभाषा में नव्य 'सुशीला टीका' की सुन्दर रचना की है।

विश्वविख्यात कामविजेता चौदहपूर्वधरमहर्षि प० पू० आर्य श्रीस्थूलभद्रजी महाराज और कोशावेश्याका संवादरूपे मन्दाक्रान्ता छन्दमें बनाया हुआ यह शीलदूत काव्य नव्य सुशीला टीका से समलंकृत होने से अत्यन्त सुशोभित बना है।

इस ग्रन्थ का 'प्रारम्भिक प्रकथन' और 'काम विजेता आर्य श्रीस्थूलभद्रजी म० का संक्षिप्त जीवन वृत्तिकार पूज्य आ० म० सा० ने आलेखन सुन्दर किया है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य करने वाले पू. उपाध्याय श्री विनोदविजयजी म० सा० हैं तथा प्रेरक पूज्य मुनिराज श्री शालिभद्रविजयजी म० सा० हैं।

जैन पंडित छबीलदास केसरीचन्द संघवी ने भी इस ग्रन्थ का प्रस्तावनारूपे 'प्राक् कथन' का आलेखन अच्छी तरह से किया है।

इस ग्रन्थ का प्रुफ संशोधन कार्य न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य मैथिल पंडितप्रवर श्री सुरेशझाजी ने ढंग से किया है। तथा मुद्रण कार्य में श्रीमान् छगनलालजी जैन का भी अच्छा सहयोग रहा है।

उक्त महानुभावों का हम हार्दिक आभार मानते हैं।

卐卐

शीलदूत शुद्धिपत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठे	पंक्तौ
साध	सार्धम्	३	२०
श्रत्वा	श्रुत्वा	१३	५
याच्जा	या	१७	१५-१६
मेघदूते	मेघदूते	२०	२
हेप्रियतमे	प्रियतमे	२१	११
नेव	नैव	२१	१६
वुद्धपैव	बुद्धयैव	२४	२
इतमावः	इतिभावः	२९	७
नितियावम्	इतियावन्	२९	१२
कींडा	क्रीडा	४४	१३
मेव	मेव	६०	१०
वृच्छ	वृत्त	६०	१४
नातपरस्य	नातपपरस्य	६०	१६
दृश्वते	दृश्यते	६४	१५
प्रणयस्स	प्रणयस्य	६४	१७
बिरोधः	विरोधः	६४	२०
दान	दीनं	६५	२
चीनं	क्षीणं	६५	१४
दौर्वलयम	दौर्वल्यम्	६६	४
हेभर्त	हेभर्तः	६७	२
नृपात-पिलकः	नृपति-तिलकः	७०	१७
रूपेणोत्यर्थः	रूपेणोत्यर्थः	७१	१३
परिशष्ट	परिशिष्ट	७१	१५
पदेशविशेषे	प्रदेशविशेषे	७२	१८
स्नातयनेनेति	स्नात्यनेनेति	७७	१०
करऽणेनेन	करणेऽनेत	७७	१२
सङ्गमाचितम्	सङ्गमितम्	७७	२०
सुरु करै	सुखकरै	७८	४
कतृ	कर्तृ	८०	१२
विशेष	विशेषः	८१	४
एतश्च	एषश्च	८१	५
सकल्प	संकल्प	८४	५
अभधान	अभिधान	८२	९
पतिम	पतिम	९३	१९
सुरवध्व	सुरवध्वः	९५	१५
मुक्तागुणं	मुक्तागुणं	९८	६
मरिहर	परिहर	१०१	४
वैरी वारं	वैरिवारं	१०१	१७
त्वम	त्वम्	१०३	१२
फेने	फेनै	१०४	१२
स्वधुनो	स्वधुनी	१०४	१६
प्रकुर्याद	प्रकुर्याद्	१०६	६
शस्वः	शस्यः	१०६	१६
धमं	घर्म	११०	१
हे मतिमान्	हे मतिमन्	११२	१५

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठे	पंक्तौ
वृहद्गाभ	वृहद्भि	११६	३
कुरुं	कुरू	११७	४
मदीगृह	मदीयगृह	११८	११
पर्वतीव	पर्वते	११८	१३
निर्नितः	निर्मितः	११८	१४
दिन्यान्य	दिनान्य	१२४	१६
विधूत	निर्धूत	१२७	११
प्रकशेन	प्रकाशेन	१२७	१६
म्प्रत	साम्प्रतं	१२८	४
नर्हतमैवं	नर्हतैवं	१२६	१०
माकरं	माकारं	१३०	६
वद्धा	वद्धाः	१३२	१६
वर्णयते	वर्ण्यते	१३३	६
त्तीणकहय	क्षीणकृत्य	१३४	६
मुख	मुख	१३४	६
विशेष	विशेषः	१३४	१६
लगन्तिता	लगन्तितानि	१३६	१३
अर्धभिद्विता	अर्द्धभद्विता	१३७	१३
संदोग्धि	सदेग्धि	१४२	१४
वलम्या	वलभ्या	१४५	१०
सालिलं	सलिलं	१४६	८
सर्वेष्ठा	सर्वेष्ट	१४७	६
निर्यद	नियद्	१४६	१४
स्वग	स्वर्गो	१४६	१६
क्मिुतेऽयं	किमुतेय	१५१	४
गुरुपदेश	गुरूपदेश	१५१	५
भवय	भवभय	१५१	१२
ध्यास्यान्ति	ध्यास्यन्ति	१५२	२
त्रिभति	विभ्रति	१५३	२
चेष्यान्ति	चेष्यन्ति	१५३	१७
मुखास्थितां	मुखस्थितां	१५५	१३
ञ्जित	जित	१५५	१७
त	तः	१५५	१८
स्वरुपं	स्वरूपं	१५६	१
कारणे न	कारणेन	१५६	१३
कास्मिन्नपि	कस्मिन्नपि	१५६	१४
ज्ञातै तत्त्वे	ज्ञाते तत्त्वे	१५७	६
विशेष	विशेषः	१५८	६
विशेषोन्या. सेन	विशेषोपन्यासेन	१५८	१४
प्राकारेण	प्रकारेण	१५६	११
विनाशिं	विनाशि	१५६	११
तीर्थङ्करैः	तीर्मङ्करैः	१५६	१२
नो चितम्	नोचितम्	१६०	६
नरीषु	नारीषु	१६१	१४
शकयते	शक्यते	१६१	१७
त ।	तत्	१६२	११
मरणारूपस्य	×	१६२	१८
स्यास्यति	स्थास्यति	१६३	६
कोशा	कोशा	१६३	१२

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठे	पंक्तौ
आम्ताः	अस्ताः	१६४	१८
अभिप्रायः	अभिप्रायं	१६५	३
ग्राह्य	ग्राह्यं	१६६	८
एवास्थान्तरं	एवावस्थान्तरं	१६६	२०
दिन नादं	दीन नादं	१६७	१
भूय भूयः	भूयो भूयः	१६७	१८
मूर्वान्ते	मूर्च्छान्ते	१६७	१९
चित्तस्यानवा	चित्तस्यानव	१६८	१०
तस्या	तस्यौ	१६९	६
ततैश्च	ततश्च	१७०	९
निद	निज	१७१	७
साद्ध	सार्द्धं	१७२	१२
सद्भाव	रुद्भाव	१७४	२
सुपर्स्यै	सुपत्यर्स्यै	१७४	६
संमृज्यश्रु	संमृज्याश्रु	१७५	१
वस्त्राग्रान्तेव	वस्त्रग्रान्तेव	१७५	१२
स्थलमलिनि	स्थलकमलिनी	१७६	८
राद्रन्त	रान्द्रन्ति	०७६	१५
विधानस्य	विधानस्य	१७८	१
जल्पिते न	जल्पितेन	१७८	१३
चापन्त्रम्	चामन्त्रणम्	१७९	४
विकसितचे	विकसितकुचेः	१८२	३
सद्ाः	सद्यः	१८४	११
मद्बहु	मद्बाहु	१८५	१६
विशेष	विशेषः	१८५	१९
न्विताङ्गी	नताङ्गी	१८५	५
सखा	सखी	१८६	११
कठिन्यं	काठिन्यं	१८८	६
कम्	किम्	१८८	१२
लोकयन्त्यपि	लोकयन्त्यपि	१८८	१४
नो चित	नोचित	१८९	९
अवयो	आवयो	१९०	७
भत्यद्	अन्यद्	१९१	९
भुक्तवानिति	मुक्तवानिति	१९२	८
वाक्ये न	वाक्येन	१९३	१३
न हृदयम्	नो हृदयम्	१९४	१२
उत्कण्ठा	उत्कण्ठा	१९५	१०
तृणाम्	तृणाम्	१९७	१७
हे शुभ	हे शुभे	१९९	८
समभव	समभवत्	१९९	१९
पा वृषो	प्रावृषो	२००	१८
भवनेति	भावनेति	२०२	७
निजमति	निजमतिं	२०४	१
ईहित	ईहितं	२०४	७
पुसाम्	पुंसाम्	२०४	८
नीचेः	नीचैः	२०४	८
उध्वं	ऊर्ध्वं	२०५	३

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठे	पंक्तौ
कलप्तं	क्लृप्तं	२०५	११
उच्चेः	उच्चैः	२०५	१७
वगमे	विगमे	२०७	१८
रमयं	रसमयं	२०९	२
प्रादान्	प्रादात्	२११	१
कायमेव	कार्यमेव	२११	९
भिर्ति	प्रीति	२१३	१४
वैर रूपतां	वैरूपतां	२१४	१२
आपि	अपि	२१५	१६
सम्भुति	सम्भूर्ति	२१६	३
प्रणताम्	प्रणनाम	२१७	१२
चर्याश्चि	चर्यश्च	२१८	१
यस्य	य स्य	२२०	१०
प्रपाल्यः	प्रपाल्य	२२१	७
सुखनितातां	स्वर्वनितानां	२२२	३
सुखनितानां	स्वर्वनिताना	२२२	६
सद्गुरू	सद्गुरु	२२३	१९
कुरुपरिचय	गुरुपरिचय	२८४	९

卐卐

卐 अर्हम् 卐

॥ वर्त्तमानशासनाधिपति-श्रीमहावीरस्वामिने नमः ॥

॥ अनन्तलब्धिनिधान-श्रीगौतमस्वामिने नमः ॥

॥ दुष्करदुष्करकारक-श्रीस्थूलभद्रस्वामिने नमः ॥

॥ शासनसम्राट्-श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपरमगुरवे नमः ॥

॥ साहित्यसम्राट्-श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरप्रगुरवे नमः ॥

श्रीबृहत्तपोगच्छनायक-भट्टारकाचार्य श्रीरत्न-सिंहसूरिशिष्योपाध्याय श्रीचारित्र-सुन्दरगणिवर-विरचितं

[समस्यामयं काव्यम्]

卐 शीलदूतम् 卐

तदुपरि-

शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपोगच्छाधिपति-ब्रह्मतेजो-मूर्त्ति-महाप्रभावशालि-श्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेक तीर्थोद्धारक-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-स्व० प० पू० आ० श्रीमद्विजयनेमि-सूरीश्वरस्य पट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-स्व० प० पू० आ० श्रीमद्विजय-

लावण्यसूरीश्वरस्य पट्टधर-व्याकरणरत्न--शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-देशनादक्ष प० पू० आ० श्रीमद् विजयदक्ष-सूरीश्वरस्य पट्टधराचार्यश्रीविजयसुशीलसूरिणा विरचिता 'सुशीला-वृत्तिः'।

अथ टीकाकृतो मङ्गलाचरणम्

[शिखरिणी-वृत्तम्]

युगादीशं नत्वा ऋषभजिनराजं जगदिनं।
सुतं नाभेराद्यं नरपतिमथाद्यञ्च यमिनम् ॥
तथा शान्तीशानं सकलसुरपूज्यं सुखकरं।
ह्यभूच्चक्रीतीर्थङ्कर इह सहैवैकजनने ॥१॥

[मन्दाक्रान्ता-वृत्तम्]

स्तुत्वा देवं यदुकुलमणिं नेमिनाथं जिनेन्द्रं।
शत्रुस्निग्धे कमठधरणेन्द्रे समं पार्श्वनाथम्।
भूयो भूयो दशनपरकं कौशिकं चण्डपूर्वं।
क्षान्त्वा बोधप्रवणमतिकं वर्द्धमानं नमामि ॥२॥

[शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्]

स्मृत्वा श्रीजिनभारतीं गणधरं श्रीगौतमेत्यादिकं,
तीर्थोद्धारधुरन्धरं गुरुवरं श्रीनेमिसूरीश्वरम्।
प्रख्यातं प्रगुरुञ्च पण्डितवरं, लावण्यसूरीश्वरं,
श्रेष्ठं शास्त्रविशारदं कविरविं श्रीदक्षसूरिं गुरुम् ॥३॥

[वसन्ततिलका-वृत्तम्]

श्रीस्थूलभद्रमुनिवर्यचरित्रयुक्तं,
चारित्रसुन्दरगणिप्रवरेण दृब्धम् ।
साहित्यसर्वगुणबोधजलेन पूतम्,
प्रख्यातमस्ति भुवने प्रियशीलदूतम् ॥४॥
तस्योपरि प्रियतमां सरलां सुशीलां,
टीकां करोमि विजयादि सुशीलसूरिः ।
श्रीशालिभद्रनिजशिष्यकृतार्थनातः,
जाता प्रवृत्तिरिति मे सफलाऽस्तु लोके ॥५॥

महाकविकालिदाससरस्वतीप्रसादोद्गतमेघदूताभिधान-खण्डकाव्यस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसप्रधानस्य निखिलपद्यान्तिमचरणं समस्यारूपेणाश्रित्य तत् पूरकैर्विप्रलम्भद्योतकैरपि शान्तपर्यवशायिभि स्त्रिभिश्चरणैः स्वनिर्मितैः सङ्गमय्य विरचयिष्यमाणं शीलदूताभिधानं बुद्धिस्थं खण्डकाव्यं प्रारिप्समाणः श्रीबृहत्तपोगच्छनायकभट्टारकाचार्यश्रीरत्नसिंहसूरिशिष्योपाध्याय श्रीचारित्रसुन्दरगणिवरो निर्विघ्नपरिसमाप्तिशिष्यपरम्परा प्रसार कामनया शिष्टपरम्परापरिप्राप्तं वस्तु निर्देशरूपं मङ्गलमाचरन्नाह—

[मन्दाक्रान्ता–वृत्तम्]

भुक्त्वा भोगान् सुभगतिलकः कोशया सार्धमिद्धान्,
धन्यो मान्यो निखिलविदुषां भद्रया स्थूलभद्रः ।

चक्रे श्रुत्वा जनकनिधनं जातसंवेगरङ्गः,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

अन्वयः—

'सुभगतिलकः धन्यः निखिलविदुषां मान्यः स्थूलभद्रः भद्रया कोशया सार्धम् इद्धान् भोगान् भुक्त्वा, जनकनिधनं श्रुत्वा जातसंवेगरङ्गः स्निग्धच्छायातरुषु रामगिर्याश्रमेषु वसतिं चक्रे' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

सुष्ठु शोभनः भगः रूपम् अणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यं भाग्यं वा यस्य स सुभगः, सुभगानां तिलकं विशेषक इवेति **सुभग-तिलकः** रूपवतां ऐश्वर्यवतां भाग्यवतां वा मध्ये प्राधान्येन विराजमान इत्यर्थः, **धन्यः** धनमर्हति, धनं लब्धा वा इत्यर्थे "धनगणाल्लब्धरि [७. १. ६]" इति यः, धनपात्रं, धन-वान् भावी चेत्यर्थः, निखिला अशेषा विद्वांसः निखिल-विद्वांसः तेषां **मान्यः** मान्यते पूज्यते इति "ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण् [५-१-१७]" इति घ्यण्, पूज्य इत्यर्थः, **स्थूलभद्रः**— पाटलीपुत्रपुरे नन्दनृपः शकटालमन्त्री लक्ष्मीदेवी पत्नी तयोः पुत्रौ स्थूलभद्र—श्रीयकाभिधानौ सप्त च यक्षादि पुत्र्य स्तत्र ज्येष्ठपुत्रः स्थूलभद्रेति नाम्ना प्रसिद्धः **भद्रया** कल्याण्या

कोशया तन्नाम्ना प्रख्यातया पाटलिपुत्रपुरवेश्यया, **सार्धम्** सह, **इद्धान्** दीप्तान् **भोगान्** भुज्यन्ते इति भोगाः, भुजेः कर्मणि घञ्, स्रक्चन्दनवनितादयो विषयाः तान् भुक्त्वा यथेच्छमुपयुज्य **जनकनिधनं** जनकस्य उत्पादकस्य शकटालमन्त्रिणः निधनंवररुचिविप्रप्रपञ्चरुष्टराजापराधदण्डशङ्कया राज्ञोऽग्रत एव स्वपुत्रेण श्रीयकेण खड्गव्यापारेण मृत्युं, **श्रुत्वा**—निशम्य **जातसंवेगरङ्गः** जातः उत्पन्नः संवेगस्य संसारसुखत्यागत्वराया रङ्गः अग्रभूमिः प्रारम्भो वा यस्य तादृशः, **स्निग्धच्छायातरुषु** स्निग्धाः मनोहराः छायाप्रधानाः तरवः छायातरवः येषु मनोहरघनच्छायावृक्षेषु **रामगिर्याश्रमेषु** रमन्ते योगिनो यत्र ते रामा स्तथाभूता गिरयः पर्वताः रामगिरयः तत्रस्थेषु आश्रमेषु मुनिनिवासस्थानेषु **वसतिं**=निवासं **चक्रे** कृतवान् इति ।

कविकालिदासस्य मेघदूते प्रथमपद्यस्य चतुर्थः चरण इहापि चतुर्थत्वेनोपात्तः केवलं रामगिर्याश्रमपदं तत्र चित्रकूटाभिधपर्वताऽर्थे प्रयुक्तम् इह च तदन्यथा (पूर्वोक्तरूपेण) व्याख्येयं भवतीति ।

विशेषः—मगधदेशेषु पाटलिपुत्रनगरे नवमस्य नन्दराजस्य मन्त्री शकटालः बहुमतः आसीत् । तत्रैव च वररुचिर्महावैयाकरणः कविश्च राजानं तोषयितुं बहुप्रयत्नवानपि मन्त्रिणा केनापि कारणेन व्यर्थं प्रयत्नः क्रियते स्म ।

ततश्च रुष्टोऽसौ वररुचिः छिद्रान्वेषणतत्परः कथमपि शकटालं राजविद्रोहिणं प्रमाणयामास। ततो राज्ञा शकटालोऽवमतः। तदपमानं विज्ञाय बुद्धिमता शकटालेन कदाचिदयं राजा रुष्टः कुलविनाशाय प्रयतेतेति मत्वा राजाग्रे एव स्वपुत्रेण स्ववधं कारयामास। तस्य कनिष्ठः पुत्रः श्रीयकस्तत् कारणं राज्ञा पृष्ठ उवाच देवेनायं स्वापराधी विज्ञात इति राज सन्दिग्धस्यास्य मरणमेवोचितमिति ज्ञात्वा मयाऽयं मारितः। इति श्रुत्वा राजा श्रीयकोपरि सन्तुष्ट स्तं सर्वाधिकारसहितं मन्त्रिपदं स्वीकर्तु माह। स च ज्येष्ठे भ्रातरि स्थूलभद्रे स्थिते मम मन्त्रित्वं नोचितमिति मनसि कृत्वा राजानमाह—"देव! मम ज्येष्ठो भ्राता स्थूलभद्रो महामतिः सर्वमन्त्रिगुण-सम्पन्नो द्वादशवर्षेभ्यः कोशाया वेश्यायाः प्रेमपाशेन तल्लीन-स्तद्गृहे एव तिष्ठति। स एवानेन पदेन योजयितु युक्तोऽहं तु देवस्यानुचरः सर्वदैवास्मि" इति।

ततो राज्ञा दूतद्वारा स्थूलभद्र आहूतो मन्त्रिपदं ग्रहीतुं कथितः। तेनोक्तम्—विचार्य श्रीमदुत्तरं दास्यामीति। ततोऽपसृत्य महामतिः स कस्यापि नियोगे स्थितिः महद्-दुःखकारणं भवति. कदाचिन्मम पितुरिवानर्थायापि कल्पेतेति मन्त्रिपदात् प्रव्रज्यैव वरमिति विचार्य लोचादिकं साधुभाव-पूर्वकृत्यं सम्पाद्य राज्ञोऽग्रे गत्वा 'धर्मलाभं' उवाच।

राज्ञा चेदमेवोत्तरमिति विज्ञाय स विसृष्टः सद्गुरुश्रीसम्भूतिविजय पार्श्वे गत्वा सर्वविरतिसामयिकोच्चारणपुरःसरं पारमेश्वरीं प्रव्रज्यामग्रहीत् । इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरविरचिता परिशिष्टपर्वं कथाऽत्रानुसन्धेया ॥

भोगान् सुभग इत्यनुप्रासालङ्कारः, धन्यो मान्य इत्यपि। अत्र काव्ये 'मन्दाक्रान्ता च्छन्दः' तल्लक्षणम् -"मो भनौ तौ गौ मन्दाक्रान्ता यचैः" [छन्दोनु० अ० २, सूत्र-२९०] इति । 'मगणः SSS, भगणः SII, नगणः III, तगणद्वयम् SSI, SSI, गुरुद्वयम् SS.' इत्येव मक्षरविन्यासः । अत्र क्रमाद् चतुर्भिः षड्भिः सप्तभिरक्षरैर्यतिरिति लक्षितः पादो यस्या सा मन्दाक्रान्ता वृत्तिरिति सूत्रार्थः । प्रतिपादं लक्षणसमन्वयः स्पष्टमूह्यः ॥ १ ॥

अथ गुरुसमीपगमनमाह—

चित्ते मत्वा विषयनिचयं सत्वरं गत्वरं वै,
गच्छन्नेषोऽध्वनि घनजिनध्यानसंलीनचित्तः ।
शान्तं कान्तं रसमिव गिरौ श्रीगुरुं भद्रबाहुं,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अन्वयः—

'चित्ते विषयनिचयं सत्वरं गत्वरं मत्वा घनजिनध्यानसंलीनचित्तः एषः अध्वनि गच्छन् गिरौ कान्तं शान्तं रसम्

इह वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं श्रीगुरुं भद्रबाहुं ददर्श वै' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

पूर्वपद्ये जातसंवेगरङ्गः इति पदेन वैराग्योत्पत्तिरुक्ता। वैराग्योत्पत्त्या च तत्त्वविविदिषा जायते तत्त्वज्ञानार्थं च गुरुरेव शरणम् 'तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इति–चित्ते हृदये **विषयनिचयं** विसिन्वन्ति अवबध्नन्ति इति विषयाः स्रग्चन्दनवनितादयः सांसारिका भोगाः तेषां निचयं समूहं, **सत्त्वरं** त्वरया सहितं यथा स्यात् तथा **गत्वरं** गमनशीलं "गत्वरः [५-२-७८]" इति निपातनम्। **मत्वा** विज्ञाय, **घनजिन ध्यानसंलीनचित्तः** घनं निबिडं यत् जिनस्य जयति रागद्वेषमोहादीन् शत्रून् इति जिनः "जीणशीदीबुध्यविभीभ्यः कित् [उणा० २६१]" इति किति न प्रत्यये जिन इति तस्य अर्हतः ध्यानं स्मरणं तत्र संलीनं सम्यग् एकतान तया लीनं मग्नं चित्तम् अन्तःकरणं यस्य तादृशः एषः स्थूलभद्रः मुनिराजः, अध्वनि मार्गे **गच्छन्** व्रजन् **गिरौ** पर्वतप्रदेशे **कान्तं** मनोहरं **शान्तं** तन्नाम्ना प्रसिद्धं **रसम्** रस्यते आस्वाद्यते इति रसः शम-स्थायिभावकः संसारदोषदर्शनादिना विभावेनाभिव्यक्तः आत्मानन्दरूपः तं **इव वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं** वप्रक्रीडा उत्खातकेलिः [गजादिभिः तटाद्यूर्ध्वभूमिप्रदेशानां

दन्तादिभिरुत्पाटनाय तदुत्थितधूलेरुपरि क्षेपाय च या क्रीडा क्रियते सा वप्रक्रीडेत्युच्यते] तस्यां परिणतः तिर्यग्दन्तप्रहारी [तिर्यग्दन्तप्रहारी तु गजः परिणतो मतः इति विश्वः] गजः करी तद्वत् प्रेक्षणीयं दर्शनीयं, यथा तादृशो गजः स्वाभाविकक्रीडायां निरतः किमपि सांसारिकमन्यत् न चिन्तयति तथैव सात्त्विकध्यानमग्नोऽसाविति भावः। श्रीगुरुं श्रिया शोभया सहितः गुरुः श्रीगुरुः तं, गृणाति धर्मम् इत्यर्थे "कृ गॄ श्रृत उर्च [उणा० ७३४]" इति उ प्रत्यये ऋकारस्य उरादेशे च गुरुशब्दनिष्पत्तिः धर्मोपदेशकं [गुरुर्धर्मोपदेशकः इति हैमः] भद्रबाहुं एतन्नामकं श्रुतकेवलीं स्थविरं आर्यपदोपलक्षितं विद्यागुरुवरं मुनिप्रवरं ददर्श दृष्टवान् इति ॥

विशेषः—परिशिष्टपर्वणि श्रीस्थूलभद्रकथायामस्य गुरुः श्रीसम्भूतिविजय उक्तः स दीक्षागुरुः इति पूर्वं प्रतिपादितम् इह च अस्य गुरुः भद्रबाहुः उक्तः स विद्यागुरुः।

मेघदूतेऽपि द्वितीयश्लोकस्य चतुर्थचरणोऽयं, तत्र वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयमितिपदं मेघस्य विशेषणतया स्थितं तस्य पर्वतशिखरसम्बद्धतया च साधुसंघटतेऽत्रच कथंचिदारोपितानन्यध्यानपरतया योजनीयं भवतीति विशेषः ॥२॥

गुरोराभिमुख्यमाह—

शिक्षाकामं कृतनतिममुं ध्वस्तकामं निरीक्ष्या-
चख्यावेवं गुरुरुरुगिरा वत्स ! मोहं जयैतम् ।
संयोगेऽपि प्रभवति यतः प्राणिनामत्र दुःखं,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ? ॥३॥

अन्वयः—

'गुरुः शिक्षाकामं कृतनतिं ध्वस्तकामम्, अमुं निरीक्ष्य एवम् उरुगिरा आचख्यौ, वत्स ! एतं मोहं जय, यतः अत्र प्राणिनां संयोगे अपि दुःखं प्रभवति, कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने दूरसंस्थे किं पुनः' इत्यन्वयः ।

व्याख्याः—आयान्तमेव श्रीस्थूलभद्रमुनिं दृष्ट्वा विशिष्टज्ञानयोगेन गुरुः तदीयं सर्वं वृत्तं ज्ञात्वा तं शिक्षयन् कथयामासेति कवेराशयः ।

तमेवाह—**शिक्षाकामं** कथमयं सांसारिको मोहो मे यास्यतीति तदुपदेशं शिक्षितुमिच्छन्तं **कृतनतिं** कृता विहिता नतिः शिरोनमनं येन तादृशम् **ध्वस्तकामं** कामेन स्मरेण ध्वस्तस्ववशमानीय मार्गात् च्यावित इति ध्वस्तकामः पूर्वं सम्प्रति तु ध्वस्तः कामो येनेति ध्वस्तकामः तं कामवासना परिभाविनम्, पूर्वत्रार्थे तृतीयातत्पुरुषसमासः राजदन्तादिवत् पूर्वप्रयोगार्हस्य परप्रयोगः, परत्रार्थे **बहुव्रीहिः**

समासः; अमुं स्थूलभद्रं निरीक्ष्य आलोक्य एवं वक्ष्यमाण-प्रकारेण उरुगिरा श्रेष्ठवाचा आचख्यौ कथयामास। वत्स! वात्सल्यपात्र! एतं ते मनसि स्थितं मया प्रत्यक्ष-तया दृश्यमानं मोहं वैचित्यं जय अधः कुरु, यतः कारणात् अत्र संसारे प्राणिनां मनुष्याणां संयोगे परस्पर सम्पर्के (सति) अपि दुःखं परस्परप्रतिकूलवेदनीयं प्रभवति सम्पद्यते कण्ठाश्लेषप्रणयिनि कण्ठस्य प्रियजनशिरोधरस्य आश्लेषः आलिङ्गनं तस्य प्रणयः गाढं प्रेम अस्य अस्तीति कण्ठाश्लेषप्रणयी तस्मिन् (तादृशे) जने दूरसंस्थे प्रियजनाद् विप्रकृष्ट देशस्थिते सति किं पुनः किं वक्तव्यम्, तादृशा-वस्थायां तु दुःखमवश्यम्भावीति।

विशेषः—सांसारिकजीवानां परस्परसंयोगेऽपि किञ्चिदपि प्रतिकूलाचरणेन दुःखं सदैव दृश्यते, सततं कण्ठसम्पर्कस्पृ-हयालौ जने परस्पर वियुक्ते तु तद् दुःखं किमाख्यातुं शक्यते, परां काष्ठां गच्छति। तथा च संयोगविप्रयोगावुभावपि दुःखकरावेवेति वरं तत् त्याग एव स्वयं कृतेत्यागे च परं सन्तोष उपजायते। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

“अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
स्वतन्त्रा गच्छन्तः परमपरिखेदाय मनसः,

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥"

[वैराग्यशतके]

एवं च सम्प्रत्यपि कोशाकारणात् अन्यप्रियजनविप्रयोगकारणाच्च ते मनसि यद् दुःखं विद्यते, तन्मोहादेव, तेषु या तव प्रियत्वभावना सा मिथ्या, यतस्तेषां संयोगावस्थायामपि त्वया दुःखमेवाऽनुभूतं स्यात्, अतः सर्वथादुःखदाय्ययं मोह स्त्याज्य एव, तदैव सन्तोषसुखमुदेष्यतीति भावः ॥३॥

अथ स गुरुसन्निकर्षादात्मनः कृतकृत्यतां दर्शयति—

धन्यं मन्ये मुनिपरिवृढात्मानमेनं किलाद्या-
निन्द्यं सद्यः परमसुखदं यन्नतं वः पदाब्जम् ।
पीत्वा हृद्यां विशदहृदयो देशनां सोऽपि सूरेः,
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

अन्वयः—

'सूरेः हृद्यां देशनां पीत्वा विशदहृदयः प्रीतः सः अपि प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं (एवं) व्याजहार; हे मुनिपरिवृढ ! अद्य एनम् आत्मानम् धन्यं मन्ये किल, यत् अनिन्द्यं सद्यः परमसुखदं वः पदाब्जम् नतम् इत्यन्वयः ।

व्याख्याः—सूरेः--माढरगोत्रीयस्थविर श्रीसम्भूतिविजयाभिधगुरोराचार्यस्य हृद्यां हृदयस्य प्रियां "हृद्यपद्य•

[७-१-११]" इति यः, "हृदयस्य हृल्लास लेखाण्ये ।३-२-९४]" इति हृदादेशः, **देशनां** देशयति प्रापयति निर्मलं ज्ञानमनया इत्यर्थे "णिवेत्त्यास श्रन्थघट्टवन्देरनः [५-३-१११]" इति अन स्त्रियां देशना उपदेशवाक् तां **पीत्वा** सोत्कण्ठं श्रुत्वा हृदि संधार्य च, **विशदहृदयः** विशदं विमलं हृदयम् अन्तःकरणं यस्य सः, **प्रीतः** तृप्तः प्रींग्श् तृप्तिकान्त्योः इत्यकर्मकात् प्रीणातेः कर्तरि क्तः, **प्रीति-प्रमुखवचन** प्रीतिः स्वतृप्तिरेव प्रमुखम् प्रधानं यत्र तादृश वचनं वाक्यं **स्वागतम्** सुष्ठु शोभनम् आगतम् आगमनं यथा स्यात् तथा, आङ् पूर्वकाद् गमे र्भावे क्लीबे क्तः क्रियाविशेषणमिदम् (एवं) **व्याजहार** उवाच । हे **मुनिपरिवृढ** ! मन्यन्ते आत्मानं जानन्ति इति मुनयः "मनेरुदेतौचास्य वा [उणा० ६१२]" इति मनेरिः, तेषां परिवृढः परिवृंहति परिवर्हति वा इत्यर्थे "क्षुब्धविरिब्ध० [४-४-७०]" इति निपातनात् साधुः, प्रभुः तत् सम्बोधनम् हे मुनिपरिवृढ ! **अद्य** अस्मिन् दिने **एनं** प्रत्यक्षस्थितम् आत्मानं माम् **धन्यं** धनलब्धारं सौभाग्य युक्तं **मन्ये** अवगच्छामि किल निश्चितम्, **यत्** यस्मात् **अनिन्द्यं** निन्दाऽनर्हं प्रशस्यम् **सद्यः परमसुखदं** तत्कालमेव परमानन्दाधायकम् **वः** युष्माकं **पदाब्जम्** पदं चरण एव अब्जम् वारिसमुद्भूतं कमलम् **नतम्** वन्दितम् (अस्ति) ।

विशेषः—यद्यपि यः क्वापि गच्छति, तदागमनं तत्र स्थितेन प्रशस्यत इति स्वागतव्यवहारः, परमयं गुरुसमीपप्राप्तिमात्मनः स्वयमेव प्रशंसन् स्वस्य गुरुपाद नतिलाभेन धन्यत्वं प्रकटयामास। मेघदूते चतुर्थपद्यस्य चतुर्थः पादोऽत्र समस्यया पूरितः। तत्र च यक्षो मेघस्य स्वागतमाह। प्रीतिप्रमुखवचनमिति पदं च स्वागतमित्यस्यैव विशेषणम्। किन्त्विह प्रकृतोपयोगितया तदेव पदं विशेष्यतया प्राधान्येन व्याख्यातम्॥ ४॥

आत्मनो दैन्यं प्रकटयति—

कामान्धोऽहं तदिह बहुधा कर्म मोहादकार्षं,
जानात्यन्यो न हि जिनपते यद् विपाकं मुनीश॥
यावज्जैनीं वचनरचनां वा न विन्दन्ति तावत्,
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु॥ ५॥

अन्वयः—

'हे मुनीश! कामान्धः अहम्-यद् विपाकं जिन पतेः अन्यः न हि जानाति तत् कर्म मोहात् बहुधा अकार्षम्, वा कामार्त्ताः यावत् जैनीं वचनरचनां न विन्दन्ति तावत् चेतना चेतनेषु प्रकृतिकृपणाः (भवन्ति) हि' इत्यन्वयः।

व्याख्या:—

हे मुनीश ! मुनीनां तत्त्वबोधशीलानां यतीनाम् ईशः प्रभुः तत्सम्बोधनम्, **कामान्धः** कामेन विषयाभिलाषेण **अन्धः** दृष्टिविकलः कर्तव्याकर्तव्यदर्शनहीनः **अहं** स्थूलभद्रः, **यद्विपाकं** यस्य कर्मणः विपाकं परिणामं **जिनपतेः** जिनानाम् इन्द्रियविजयशीलानां पतिः प्रधानं तस्मात् **अन्यः** भिन्नः जनः **न जानाति** वेत्ति, **तत् कर्म** तादृशं कृत्यं **मोहात्** मनसो वैकृतात् **बहुधा** बहुभिः प्रकारैः **अकार्षम्** कृतवान् अस्मि । विषयेऽत्र पक्षान्तरमुपन्यस्यन् समर्थयति **वा** अथवा **कामार्ताः** विषयाभिलाषेण अतिपीडिता जनाः **यावत्** यत् कालपर्यन्तं **जैनीम्** जिनस्य भगवतोऽर्हतः इयं जैनी तां **वचनरचनां** उपदेशवाक् प्रवृत्तिं **न विन्दन्ति** गुरुमुखात् न लभन्ते तावत् चेतनाचेतनेषु चेतयन्ते स्वज्ञानानुरूपं चेष्टन्ते इति चेतनाः जङ्गमाः, अचेतनाश्च तद्भिन्ना जडाः तेषु मध्ये **प्रकृतिकृपणाः** प्रकृत्या स्वभावत एव कृपणाः दीनाः भवन्ति इति नायं मदीय एव दोषः जिनोपदेशश्रवण हीनाः सर्व एव मादृशा एवं कर्तव्याकर्तव्यज्ञानशून्याः सन्तो बहुविधानि अज्ञात-विपाकानि कर्माण्याचरन्त्येव । तथा च गुरुणा तथा जिनोपदेशदानेन कृतार्थनीयोऽस्मि यथा पुनरेवं विकर्मासक्तो न भवेयमित्याकूतम् ।

विशेषः—मोहवशाद् बहुधा विरुद्धाचरणोऽहं तद् विपाकानभिज्ञो भीतश्च त्वच्छरणं प्रपन्नोऽस्मि । कामार्त्तानां चेदृशी स्थिति रुपपन्नैव । जिनोपदेशज्ञानाभावरूप सामान्यकारणेन स्वापराधः समर्थित इत्यर्थान्तरन्यासालङ्कारः । मेघदूते पञ्चमपद्यचतुर्थचरणसमस्यापूर्त्तिरियम् । तत्र च यक्षस्याचेतन मेघप्रार्थनायां प्रवृत्तिरनेन चरणेन समर्थिता, अत्रापि स्वपापाचरणं यथा कथंचित् समर्थितमेवेति विज्ञेयम् । 'हि' इति पदं प्रकृते पादपूरणमात्रप्रयोजनम् इति प्रतिभाति ॥ ५ ॥

गुरुं स्तुवन् प्रार्थयते—

जाने युष्मान् जिनपतिसमान् ज्ञानदानप्रवीणान्,
रीणोऽमुष्मादनणुभवतो भावविद्वेषिजेतॄन् ।
याचे तस्माच्चरणशरणं वः शरण्या ! रणघ्नं,
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाऽऽधमे लब्धकामा ॥६॥

अन्वयः—

'अमुष्माद् भवतः अनणु रीणः (अहं) युष्मान् जिनपति समान् ज्ञानदानप्रवीणान् भावविद्वेषिजेतॄन् जाने; तस्मात् हे शरण्याः ! रणघ्नं वः चरणशरणं याचेः अधिगुणे याञ्चा मोघा वरम् अधमे लब्धकामा न (वरम्)' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

अमुष्मात् विप्रकृष्टात् परस्मादिति यावत् **भवतः** संसारात् लोकाद् वा **अनणु** अत्यन्तं **रीणः** रीङ्च् स्रवणे, इत्यस्मात् क्तः ल्वयत्यादित्वात् तस्य नः स्रुतः च्युत इत्यर्थः अहं **युष्मान्** भवतः **जिनपतिसमान्** जिनानां पतिः जिनपतिः तेन समान् सदृशान् **ज्ञानदानप्रवीणान्** ज्ञानस्य सम्यक्त्वस्य दाने वितरणे उपदेशे **प्रवीणान्** निपुणान्. **भावविद्वेषिजेतॄन्** भावः अर्हत्सु श्रद्धारूपेऽभिप्रायः तस्य विद्वेपिणः विरुद्धा रागादयः तेषां जेतॄन् जयशीलान् **जाने** अवगच्छामि, **तस्मात्** पूर्वोक्तपरिचयात् कारणात् हे **शरण्याः** ! शरणे रक्षणे साधवः शरणाय हिताः इति वा शरण्याः ! शरणं गृहरक्षित्रोः इति विश्वः, **रणघ्नं** संसारोरण इव तस्य नाशकम् **वः** युष्माकं **चरणशरणम्** चरणयोः पादयोः शरणम् आश्रयं **याचे** प्रार्थये; प्रार्थनाया औचित्यं समर्थयति-अधिगुणे स्वाधिकगुणवति पुंसि याच्ञा प्रार्थना मोघा निष्फला **वरम्** ईषत्प्रियम्, अधमे स्वतो हीने पुंसि (याच्ञा) लब्धकामा प्राप्तसमीहितफलापि न (वरम्) ईषत्प्रियमपि न भवति ॥

विशेषः—अत्र शरणप्रार्थनाया विशेषरूपायाः सामान्यरूपेण अधिकगुणे प्रार्थनाया औचित्येन समर्थनमित्यर्था-

न्तरन्यासोऽलङ्कारः। मेघदूतेऽप्ययं चरणो यत्तस्य मेघप्रार्थनाया औचित्यसमर्थनायोपात्त इति साम्यमेव ॥ ६ ॥

अथास्य दीक्षालाभं गुर्वादेशाद् विहारं चाह—

कृत्वा लोचं शिरसि सहसा पञ्चभिर्मुष्टिभिः स्वै-
र्लात्वा दीक्षां गुरुवचनतः सैष शिक्षामवेत्य ॥
गुर्वादेशादथ निजपुरीमागमत्तां यतिर्या,
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौत हर्म्या ॥७॥

अन्वयः—

'सः एषः गुरुवचनतः स्वैः पञ्चभिः मुष्टिभिः शिरसि लोचं कृत्वा, दीक्षां लात्वा, शिक्षाम् अवेत्य, अथ यतिः गुर्वादेशात् तां निजपुरीम् आगमत्, या बाह्योद्यानस्थित हरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

सः पूर्वप्रक्रान्तः **एषः** श्रीस्थूलभद्राभिधो मुनिवरः **गुरुवचनतः** गुरोः स्थविरश्रीसम्भूतिविजयस्य वचनतः वाक्यात् गुरूपदेशादित्यर्थः **स्वैः** स्वकीयैः **पञ्चभिः** पञ्च संख्याकैः **मुष्टिभिः** **शिरसि** शिरःस्थितकेश विषये **लोचं** लुञ्चनं दीक्षापूर्वकालविधेयं **कृत्वा** सम्पाद्य, **दीक्षां** चारित्रं व्रतसंग्रहं 'दीक्षातु व्रतसंग्रहः इति हैमः' **लात्वा** आदाय **शिक्षाम्** कर्तव्यज्ञानं **अवेत्य** अधिगत्य, **अथ** तदनन्तरं

यतिः यतते मोक्षाय, गच्छत्युपरमति सर्वसङ्गेभ्य इति वा यतिः मुमुक्षुः संयमी वा सः, पूर्वत्र पक्षे यतेः (यत धातोः) "पद पठ० [उणा० ६०७]" इति इः, परत्र पक्षे यमेः बाहुलकात् कर्तरि नाम्नि क्तिः, **गुर्वादेशात्** गुरोराज्ञया (चातुर्मास्याम्) **तां** पूर्वज्ञातां **निजपुरीम्** स्वनगरीं पाटलीपुत्राभिधां **आगमत्** पुनरावृत्तः, या पुरी **बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या** बाह्योद्याने पुराद् बहिः स्थिते उपवने, स्थितानि हरशिरश्चन्द्रिकावत् शिवललाटस्थितशशि कौमुदीवत् धौतानि उज्ज्वलानि हर्म्याणि धनिकगृहाणि- हरंति मनांसि जनानाम् इति विग्रहे "शिकथ्या स्याटच [उणा० ३६४]" इति ये निपातनम्, 'हर्म्यंतु धनिनां गृहम् इति हैमः' यस्यां तादृशी (अस्ति) ॥

विशेषः—दीक्षितः शिक्षितश्च श्रीस्थूलभद्रमुनिवरः कतिचिन् मासान् गुरुसमीप एवातिवाह्य प्रव्रज्यां पालयामास। अथागते कदाचिद् वर्षासमये स्वनिग्रहपरीक्षार्थं गुरुमुपेत्य न त्वैवमुवाच—"हे पूज्य ! गुरुवर्य ! कोशावेश्या गृहे या विचित्रकामशास्त्रोक्तकरणालेख्यवती चित्रशालास्ति, तत्र कृततपः कर्मविशेषः षड्रसान् भुञ्जानश्चतुरो मासानहं स्थास्यामीत्यभिग्रहो मे" इति।

गुरुरपि ज्ञानदृष्ट्या तं तद् योग्यं मत्वा तत्र गन्तुमादिदेशेति कथा परिशिष्टपर्वणि समायाता। तदनुसारमेव कोशा-

गृहे स्थित्यर्थमयं श्रीपाटलिपुत्रनगरमागमत् इतीह पद्ये प्रतिपादितम् । मेघदूते पूर्वमेघे सप्तमपद्यस्य चतुर्थचरणस्य समस्यापूर्तिरियम् । तत्र च 'बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रकाधौतहर्म्या' इति पदमलकापुरी विशेषणमिह च पाटलीपुत्रनगरस्य पुष्पपुर्या वा । अलकापुरी च बाह्योद्याने स्थितस्य हरस्य शिरसि स्थितया चन्द्रिकया सद्य एव धौतहर्म्या उज्ज्वली कृत गृहास्ति, अलकाबहिरुपवने कुबेरप्रार्थनया कञ्चित् कालं शिवनिवासस्य पुराणप्रसिद्धेः । पुष्पपुरीविषये तु बाह्योद्यानस्थितपदं पृथगेव हर्म्यविशेषणं हरशिरश्चन्द्रिकापदं च धौतविशेषणतामनुभूय तद् द्वारा हर्म्यविशेषणमिति भेदः ॥ ७ ॥

अथ श्रीस्थूलभद्रप्रव्रज्यानन्तरं कोशावृत्तान्तं संक्षेपेणाह—

कोशा शस्यप्रकृतिरथ सा स्वप्रियं चाऽनुयान्ती,
दध्यावेवं विविधवचनैरम्बया संनिषिद्धा ।
तिष्ठेत् का हा ! स्वगृह इह हि प्रोषिते प्राणनाथे ?
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

अन्वयः—

'अथ शस्यप्रकृतिः कोशा स्वप्रियम् अनुयान्ती अम्बया विविधवचनैः सन्निषिद्धा एवं दध्यौ, प्राणनाथे ! प्रोषिते इह

स्वगृहे का तिष्ठेत्, यः अन्य अपि जनः अहम् इव पराधीन-वृत्तिः न स्यात्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

अथ श्रीस्थूलभद्रप्रव्रज्यानन्तरम्, **शस्यप्रकृतिः** शस्या प्रशंसनीया प्रकृतिः स्वभावमर्यादा यस्याः तादृशी **कोशा** एतन्नाम्ना प्रसिद्धा पुष्पपुरीवारनारी आसीत्, सा **स्वप्रियम्** स्वस्नेहास्पदम् श्रीस्थूलभद्रम् **अनुयान्ती** पश्चाद् गन्तुं प्रयस्यन्ती **अम्बया** मात्रा **विविधवचनैः** बहुविधदोषदर्शन-वेश्याजननीतिविरोधप्रदर्शनादिपरैः वचोभिः संनिषिद्धा निवारिता एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण **दध्यौ** अनुशुशोच-**प्राणनाथे**? हे प्रियतमे! **प्रोषिते** प्रवासं गते सति **इह** संसारे **स्वगृहे** स्वीये आगारे **का** नारी **तिष्ठेत्** स्थितिं विदध्यात्, **यः अन्यः** मदतिरिक्तः **अपि जनः** लोकः **अहम् इव** मत् सदृशः **पराधीनवृत्तिः** परस्य मात्रादे गुरुजनस्य अधीना आयत्ता वृत्तिः आचारः यस्य तादृशः **नस्यात्** न भवेत् । स्वतन्त्रस्तु नैवं कुर्यादिति भावः ॥

विशेषः—अत्र मूलपुस्तके तृतीयचरणे 'तिष्ठेत् को हा' इत्येवं पाठः समुपलभ्यते, परन्तु 'प्रोषिते प्राणनाथे' इत्युक्तेऽवश्यमिदं स्त्रीवचनमिति निश्चिते स्त्रीलिङ्गेनैव निर्देशो युक्त इति 'तिष्ठेत् का हा' इति पाठः कल्पितः ।

अत्र स्वतन्त्रस्यैवमाचरणं न युक्तमित्ययमर्थो विशेषरूपः पराधीनवृत्तेरेव अनभिमताचरणसमर्थनेन समर्थित इत्यर्थान्तरन्यासालङ्कारः । तल्लक्षणं च—

"कार्यकारणसामान्य-विशेषाणां परस्परम् ।
समर्थनं यत्र सोऽर्था-न्तरन्यास उदाहृतः ॥" इति ।

एवमेव मेघदूतस्याष्टमपद्यचतुर्थचरणस्यापि व्याख्येति सामान्यम् । तत्र च यक्षेण स्वप्रियायाः प्रावृषि त्यागोऽनेन चरणेन समर्थितः । अत्र चास्यार्थस्य स्त्रीपुरुषसाधारण्येन कथनात् जन इति पुंलिङ्गेन निर्देशेऽपि न पूर्वचरणविरोध इति विभावनीयम् । यदा श्रीस्थूलभद्रो वैराग्यात् कोशां त्यक्त्वा प्रव्रजितस्तदैव साऽपि गृहत्यागाय प्रस्तुता परन्तु अम्बया निषिद्धा त्यक्तुमनीशा एवं शुशोचेति भावः ॥ ८ ॥

सम्प्रति पुनरागच्छन्तं श्रीस्थूलभद्रमुनिवरं विलोक्य तद् व्यवहारमाह—

प्राप्तं द्वारि प्रियतममथो वीक्ष्य सोचे प्रमोदा-
द्देवोत्तुङ्गं भज निजगृहस्यैनमग्र्यं गवाक्षम् ।
स्निग्धच्छायं घनमिव जनानन्दनं यत्र संस्थं,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥९॥

अन्वयः—

'अथो द्वारि प्राप्तं प्रियतमं वीक्ष्य प्रमोदात् ऊचे, देव ! निजगृहस्य उत्तुङ्गम् अग्र्यम् एनम् गवाक्षम् भज, यत्र संस्थं स्निग्धच्छायं जना नन्दनं नयनसुभगं भवन्तं घनमिव खे बलाकाः सेविष्यन्ते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

अथो बहुकालप्रवासानन्तरं **द्वारि** गृहाग्रप्रदेशे **प्राप्तं** समागतं **प्रियतमं** अतिशयप्रियं (श्री स्थूलभद्रं) **वीक्ष्य** विशेषेणावलोक्य **प्रमोदात्** हर्षात् **सा** कोशाभिधा वेश्या **ऊचे** वक्ष्यमाण प्रकारेणावदत्—हे **देव** ! अनेकविधक्रीडाकारिन् ! **निजगृहस्य** स्वावासभूतस्यास्य मम प्रासादस्य **उत्तुङ्ग'** उच्चैरुन्नतं **अग्र्यं** अग्रतः स्थितं **एनम्** अङ्गुल्या निर्देश्यमानं **गवाक्षम्** वातायनस्थानं चित्रशालाख्यं **भज** निर्विश; **यत्र** गवाक्षे **संस्थं** सम्यक् वर्तमानं (स्थितं) **स्निग्धच्छायं** स्निह्यते स्म इति स्निग्धा स्पृहणीया छाया कान्तिः यस्य तादृशं **जनानन्दनं** जनान् सर्वलोकान् आनन्दयति सुखयतीति तं, **नयनसुभगं** नयनयोः नेत्रयोः कृते सुभगं प्रियम् **भवन्तं** त्वां **घनमिव** मेघबुद्ध्येव (मेघस्यापि प्रोक्तविशेषण त्रय विशिष्टत्वात्) **खे** आकाशे (स्थिताः इति शेषः) **बलाकाः** बकाङ्गना **सेविष्यन्ते** सस्पृहमालोकयिष्यन्ति । बलाकाः मेघं दृष्ट्वा खे उड्डीयमाना

गर्भं दधत इति मेघस्तत् प्रियः इति मेघसदृशं भवन्तं दृष्ट्वा तद् बुद्ध्यैव भवन्तमपि सेविष्यन्त इति तात्पर्यम् ॥

विशेषः—अयं श्रीस्थूलभद्रमुनिवरः स्वाभिग्रहपालनार्थमेवेहागत इति सा न जानाति स एवायम्पुनर्मद्गुणाकृष्टः समागत इति बुद्ध्या व्यवहरति । अत्रत्य चतुर्थश्चरणो मेघदूते नवमपद्ये निविष्ट इति, किञ्चिद् वैपरीत्यं दृश्यते । अत्र च बलाकानां तत् सेवाकथनव्याजेन अहमेव त्वां साभिलाषं परिचरिष्यामीति व्यज्यते ॥९॥

तव विरहेऽप्यहं कथं जीवन्ती तिष्ठामीत्याह—

अद्य श्वो वा सखि ! तव वरः स्थूलभद्रः समेता,
स्वस्थं तस्मात् कुरु निजमनो मुञ्च मुग्धे ! विषादम् ।
दध्रे प्राणानहमिति सखीभाषितैर्नाथ ! वाऽऽशा,
सद्यः पाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

अन्वय—'हे सखि ! तव वरः स्थूलभद्रः अद्यः श्वः वा समेता, तस्मात् निज मनः स्वस्थं कुरु, हे मुग्धे ! विषादम् मुञ्च इति सखी भाषितैः हे नाथ ! अहं प्राणान् दध्रे, वा आशा विप्रयोगे सद्यः पाति प्रणयिहृदयं रुणद्धि' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सखि ! समानसुखदुःखे ! तव भवत्या वरः प्रियः स्थूलभद्रः अद्य अस्मिन्नेव दिवसे श्वः अग्रिमेऽव्यवहितदिने

वा **समेता** समागन्ता तस्मात् (तावत्) [अतः तद् वियोगदुःस्थं] निज **मनः** चेतः **स्वस्थं** स्वस्मिन् स्वीय-प्रकृतौ तिष्ठति इति **स्वस्थम्**-अव्याकुलं **कुरु** विधेहि, हे मुग्धे ! सरलहृदये **विषादम्** खेदं **मुञ्च** परित्यज इति पूर्वोक्तरूपैः **सखीभाषितैः** समानवयस्कहितेच्छुजनवचनैः हे **नाथ** ! स्वामिन् अहं तव प्रिया **प्राणान्** जीवितम् दध्रे धृतवती । पक्षान्तरोत्थापनपूर्वकं प्राणधारणं समर्थयति-**वा** अथवा **आशा** पुनः सङ्गमसम्भावना **विप्रयोगे** प्रियजन-विच्छेदे **सद्यः पाति** विच्छेदसमकालमेव पतनशीलं **प्रणयिहृदयं** प्रणयिनः प्रियजनविप्रयुक्तस्य स्निग्धजनस्य हृदयं जीवनचिह्नभूतमन्तःकरणं **रुणद्धि** पतनान्निवारयति ।

विशेषः—त्वद् विरहे जात एव प्राणत्यागपराहं कथमपि सखीभिः पुनः समागमाशया वारिता, पुनः समागमाशैव प्रणयिजनं विरहेऽपि जीवनाय प्रेरयतीति भावः । अत्रापि अर्थान्तरन्यास एवालङ्कारः, स्वप्राणधारणरूपो विशेषोऽर्थः आशयाऽन्येपि जीवन्तीति सामान्येनार्थेन समर्थितः । अत्रत्य श्चतुर्थपादः मेघदूते नवमे पद्ये चतुर्थपादत्वेन दृष्टः । अर्थानुसारमिह दशमे पूर्त्तिः ॥ १० ॥

अथ स्वाभिप्रायानुसारं कोशावेश्या श्रीस्थूलभद्रमुनिवरं भोगेषु प्रेरयति—

स्वामिन्नङ्गीकुरु परिचितं स्वाधिकारं पुनस्तं,
भोगान् भुङ्क्ष्व प्रिय ! सह मया साधुवेषं विहाय।
दोलाकेलिं किल कलयतः कौतुकात् काननान्तः,
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥११॥

अन्वय—

हे स्वामिन् ! परिचितं तं स्वाधिकारं पुनः अङ्गीकुरु, हे प्रिय ! साधुवेषं विहाय मया सह भोगान् भुङ्क्ष्व, कौतुकात् काननान्तः दोलाकेलिं कलयतः भवतः नभसि राजहंसाः सहायाः संपत्स्यन्ते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! स्वम् अस्ति अस्येत्यर्थे "स्वामिन्नीशे [७-२-४६]" इति निपातनात् साधुः, नाथ ! परिचितं पूर्वपुरुषानुक्रमादागतत्वेन विज्ञातपूर्वम् तं प्रसिद्धं स्वाधिकारं मन्त्रित्वनियोगं पुनः भूयः अङ्गीकुरु स्वीकुरु हे प्रिय ! प्रीणातीति प्रियः, प्रीधातोः "नाम्युपान्त्यप्रीकृगृज्ञः कः [५-४-५४]" इति के साधुः तत् सम्बोधनम् मनोज्ञ, साधुवेषं यतिस्वरूपं विहाय परित्यज्य मया तव प्रियया सह सार्कं भोगान् भुज्यन्ते इति भोगाः, भुजेः कर्मणि घञ्, स्रक्चन्दनादिविषयाः तान् भुङ्क्ष्व उपयुज्यस्व, कौतुकात् उत्कण्ठातः काननान्तः उपवनमध्ये दोलाकेलिं

दोलायां प्रेङ्खोलायाम् (उपविश्य) केलिः क्रीडा दोलाकेलिः तां **कलयतः** विदधतः **भवतः** तव **नभसि** गगने श्रावण-मासे च (श्रावणे दोलाकेलेरतिप्रसिद्धेः) **राजहंसाः** हंसानां राजानो राजहंसाः, षष्ठी समासे "राजदन्तादिषु [३-१-१४९]" इति पूर्वनिपाताहंस्य परप्रयोगात् राजहंसाः इति, 'राजहंसास्त्वमी चञ्चुचरणैरतिलोहितैः' इति श्रीहैमाभिधान-चिन्तामणिकोशवचनात् अतिलोहितैश्चञ्चु चरणैर्लक्षिता हंस-जातीयाः पक्षिणो राजहंसा इत्युच्यन्ते, ते **सहायाः** सह अयंते गच्छन्तीति सहाया अनुगामिनः सेवका वा।

'सहायोऽभिचरोऽनोश्च, जीवी-गामी-चर-प्लवाः।
सेवकोऽथ सेवा भक्तिः, परिचर्या प्रसादना॥'

[इति श्रीहैमाभिधानचिन्तामणिकोशे
मर्त्यकाण्डे ३, श्लो० ४९६]

सम्पत्स्यन्ते भविष्यन्ति।

विशेषः—

अयमनुशयादेव पुनर्मत्समीपमागत इति स्वाशयं निह्नुवाना, मत्प्ररोचनादेव यतिनियमत्यागः क्रियतामिति प्रकटयन्ती सा मन्त्रिपदस्वीकारपूर्वकं स्वानुकूले सहक्रीडादौ तं प्रेरयति। मेघदूतस्य एकादशे पद्ये चतुर्थचरणोऽयं मेघ-स्योत्तरां दिशम्प्रति गच्छतो मानससरोवरमभिलक्ष्योड्डीय-माना राजहंसाः सह यात्रिणो भविष्यन्तीति भावेन प्रयुक्तः।

इहापि दोलया केलिं कुर्वाणस्य श्रावणे मासि जलाशयानां पङ्किलत्वात् प्राय आकाशे स्थले च रममाणा राजहंसा अपि दोलाकेलौ सेवका इव भविष्यन्ति भवत इति प्ररोचयति ॥११॥

पुनरपि बहुजनस्नेहप्रकटनेन साधुवेषत्यागाय यतते—

पश्य स्वामिन्! निजपरिजनं त्वद्वियोगार्त्तिदीनं,
हीनं स्थाने जलविरहिते मीनवत्पीनदुःखम्।
त्वत्संयोगे मुदितमनसो वीक्षिता यस्य शस्या,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णाम् ॥१२॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन्! त्वद् वियोगार्तिदीनं हीनं निजपरिजनं जलविरहिते स्थाने मीनवत् पीनदुःखं पश्य, त्वत् संयोगे मुदितमनसः यस्य चिरविरहजम् उष्णं बाष्पं मुञ्चतः शस्या स्नेहव्यक्तिः वीक्षिता' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे **स्वामिन्**! नाथ! **त्वद्वियोगार्तिदीनं** तव वियोगः विरहः त्वद्वियोगः तस्मिन् सति या आर्त्तिः पीडा तया दीनम् दुःखितम् **हीनं** परित्यक्तं **निजपरिजनम्** स्वानुचरवर्गम् **जलविरहिते** पानीयशून्ये **स्थाने** प्रदेशे **मीनवत्** मत्स्यतुल्यं **पीनदुःखम्** पीनम् पृथुलं दुःखं कष्टं यस्य तादृशम् **पश्य** अवलोकय, **त्वत्संयोगे** पुनस्त्वया

सह मेलने सति मुदितमनसः प्रसन्नचेतसः यस्य परि-
जनस्य चिरविरहजं बहुकालवियोगसम्भवम् उष्णं दुःखो-
द्रेकात् तप्तम् बाष्पम् अन्तरूष्माणं चक्षुर्जलं च मुञ्चतः
त्यजतः अस्या प्रशंसनीया स्नेहव्यक्तिः स्निह्यत्यनेनेति
स्नेहः प्रेम, तस्य व्यक्तिः प्राकट्यं वीक्षिता अवलोकिता ।
तथा चायमवश्यं त्वयाऽपि स्निग्धदृष्ट्याऽवलोकनीयः परिजन
इ त भावः ।

विशेष—

नाहमेव केवलं त्वद्वियोगपीडिता किन्तु सर्वोऽप्ययं
मदीयः परिजनोऽपि त्वदायत्तत्वात् त्वदीय एवेति सोऽपि
तथैव दुःखितः । एवं च त्वयाऽपि स स्नेहदृष्ट्या द्रष्टव्य
स्तदनुरोधेनाऽपि यति भावं विहाय नागरभावः समवलम्ब-
नीय इत्याकूतम् । मेघदूतेऽपि द्वादशश्लोकचतुर्थचरणोऽनेनत्येन
समानार्थ एव ॥ १२ ॥

यतिभावत्यागेऽकीर्त्तिसम्भावनां निरस्यति—

मा जानीष्व त्वमिति मतिमन् ! संयमं मुञ्चतो मे,
नाशं यास्यत्यवनिविदिता कीर्त्तिविस्फूर्त्तिरेषा ।
सिद्धिं याता पुनरपि यथा सिन्धुपूरः प्रदानैः,
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपयुज्य ॥१३॥

अन्वयः—

हे मतिमन् !, त्वम् संयमं मुञ्चतः मे अवनिविदिता एषा कीर्त्तिविस्फूर्त्तिः नाशं यास्यति इति मा जानीष्व, (यतः) प्रदानैः पुनरपि सिद्धि याता, यथा सिन्धूपूरः (प्रदानैः) क्षीणः क्षीणः स्रोतसां परिलघु पयः उपयुज्य (सिद्धि याति)' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे **मतिमन्** ! मतिः मननशक्तिः अस्ति अस्येति मतिमन् तत् सम्बोधनम्, त्वं स्थूलभद्रः **संयमं** विषयाभिलाषनिग्रहं **मुञ्चतः** परित्यजतः **मे** मम **अवनिविदिता** भूतलप्रसिद्धा **एषा** सर्वतः श्रूयमाणा **कीर्त्तिविस्फूर्त्तिः** कीर्त्यते जनैः पुनः पुनराख्यायते इति कीर्त्तिः शुभकर्मानुष्ठानजं यशः, तस्या विस्फुरणं विस्फूर्त्तिः सर्वतो व्याप्तिः **नाशम्** भ्रंशं **यास्यति** गमिष्यति इति **मा न जानीष्व** अवेहि. (यतः) **प्रदानैः** प्रकृष्टैर्बहुवित्तवितरणैः (सा कीर्त्तिविस्फूर्त्ति) **पुनरपि** भूयोऽपि **सिद्धिं** सम्पत्ति **याता** प्राप्स्यति, **यथा** येन प्रकारेण **सिन्धुपूरः** समुद्रप्रवाहः (प्रदानैः मेघादिभ्यो जलदानैः) **क्षीणः क्षीणः** वारंवार हानिं गतोऽपि **स्रोतसां** नदीप्रवाहाणां **परिलघु** अतितमां गौरव (भार) हीनं **पयः** पानीयम् **उपयुज्य** स्वपूरणाय विनियुज्य (पुनरपि सिद्धिं पूर्वावस्थासम्पत्तिं याति) यति

भावकीर्त्तिनाशेऽपि दातृभावकीर्त्त्या वर्धिष्यसे इति भावः ।

विशेषः—यतिभावत्यागे कृते पूर्वं गृहत्यागभूतायाः कीर्तेर्विलोपः स्यादिति त्वया न शङ्कनीयम्, यतो गृहस्थेनापि त्वया बहुविधवित्तवितरणैस्तादृश्येव कीर्त्तिः समर्जयितुं शक्यते । तथा च यथा समुद्रप्रवाहो जलक्षयेण क्षीणोऽपि पुनरपि नदीप्रवाहजलमुपयुज्य पूर्णतां याति तथैव त्वत्कीर्तिरपि सेत्स्यतीति भावः । उपमालङ्कारः । नदीप्रवाहजलस्य परिलघुत्वं च वागभटेनेत्थमुक्तम्-

"उपलास्फालनक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ।
हिमवन्मलयोद्भूताः, पथ्यानद्यो भवन्त्यमूः ॥" इति ।

अस्यार्थः—नद्यः प्रायो हिमवतो (उत्तरतः) मलयपर्वतात् (दक्षिणतः) च प्रवहन्ति ततश्च पर्वतीयमार्गप्रवहणात् उपलेषु घातप्रतिघातैः खेदितं तासामुदकं भारराहित्यात् पथ्यतां भजत इति ।

मेघदूतीय त्रयोदशपद्ये च चतुर्थ चरणान्ते 'चोपभुज्य' इति पाठः समुपलभ्यते, परमर्थानुकूल्येनेत्थमपि पाठकल्पनायां क्षत्यभावः ॥ १३ ॥

उक्तमेवार्थं पुनरपि द्रढयति, दानस्यापि मोक्षसाधनत्वकथनेन—

जग्मुर्मुक्तिं कति न भरताद्याः सनाऽऽराध्य दानं ?
भुञ्जन् भोगान् सुभग ? भव तद् दानधर्मोद्यतस्त्वम् ।
कीर्त्त्या मूर्तीस्त्वमपि सितयन् स्वः श्रियां सिद्धिमेता,
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

अन्वयः—

'दानं सना आराध्य भारताद्याः कति मुक्तिं न जग्मुः, तत् हे सुभग ! भोगान् भुञ्जन् त्वम् दानधर्मोद्यतः भव, त्वमपि पथि दिङ्नागानां मूर्त्तीः कीर्त्त्या सितयन्, स्वः श्रियां स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् (च) सिद्धिम् एता' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

दानं वित्तवितरणं **सना** सर्वदा **आराध्य** अनुष्ठाय **भरताद्याः** भरतः आदितीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवभगवतः सांसारिक सुतः ('आर्षभि र्भरतः' इति हैमः) राजविशेषः आद्यः प्रथमो येषां ते, **कति** असङ्ख्याताः **मुक्तिं** मोक्षं **न जग्मुः**, काक्वा बहवो दानधर्मेणापि मुक्तिं गता एवेति भावः । **तत्** तस्मात् हे **सुभग** ! चक्षुष्य-सुन्दरमूर्त्ते ! ('चक्षुष्यः सुभगः' इति हैमः) **भोगान्** भुज्यन्ते इति भोगाः कर्मणि भुजे घञ्, स्रक्चन्दनवनितादयः, तान् **भुञ्जन्** उपयुञ्जानः **त्वम्** स्थूलभद्रः, **दानधर्मोद्यतः** दानं वित्तादिवितरणमेव धर्मः सुकृतम् तस्मिन् उद्यतः तत्परः **भव** एधि, (तेन) **त्वमपि**

भवानपि (भरतादिवत्) **पथि** मोक्षमार्गे (गच्छन्) **दिङ्नागानां** दिक्षु स्थिताः नागाः हस्तिनः दिङ्नागाः दिग्गजाः ते च ।

"ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः ।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः, सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥"

इत्यभिधानचिन्तामणावुक्तम् ।

तेषां **मूर्त्तीः** शरीराणि **कीर्त्त्या** दानधर्मप्रभवयशसा **सितयन्** उज्ज्वलयन्, **स्वःश्रिया** स्वर्गशोभाभूतानां कामिनीनाम् **स्थूलहस्तावलेपान्** स्थूलान् स्थूलबुद्धिभिरप्युपलक्ष्यान् हस्तयोः अपलेपान् क्षेपणादिप्रयोगैः पुण्यजनितगर्वान् **परिहरन्** विफलयन् **सिद्धिं** मुक्तिप्राप्तिम् **एता** गन्ता । स्वर्गसुखमपि 'अविगणय्य निर्वाणपदं यास्यसीति भावः ।

विशेषः—न केवलं मुनिमार्ग एव मोक्षसाधनम्, अपि तु गृहस्थोऽपि अनिषिद्धान् भोगान् भुञ्जानोऽपि सत्पात्रेषु वित्तवितरणैः कैवल्यं मोक्षसुखञ्च प्राप्नोति । तथा च त्वमपि प्राप्स्यस्येवेति कष्टकरमुनिमार्गसमाश्रयणापेक्षया गृहस्थमार्गाश्रयणमेव कुरु ।

अत्र च चतुर्थश्चरणो मेघदूतीय चतुर्दशपद्यचतुर्थचरण

समानोऽपि अर्थे भेदं भजते । किञ्च यथा तत्र प्रकृते तदर्थः सुश्लिष्टतया घटते तथेह न घटते । तथापि पूर्वोक्त-रीत्या व्याख्यानेन नातितरामसामञ्जस्यं प्रतिभाति ॥ १४ ॥

सम्प्रति कर्तव्यं दर्शयति—

स्वामिन् ! सिंहासनमनुपमं त्वं प्रसद्याश्रयेदं,
नानारत्नद्युतिततिकृतस्फारचित्रं पवित्रम् ।
येन स्निग्धं वपुरुपचितां कान्तिमापत्स्यते ते,
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन् ! त्वं प्रसद्य नानारत्नद्युतिततिकृतस्फार-चित्रम्, पवित्रम् अनुपमम् इदं सिंहासनम् आश्रय, येन स्निग्धं ते वपुः, गोपवेषस्य विष्णोः (वपुः) स्फुरितरुचिना बर्हेण इव उपचितां कान्तिम् आपत्स्यते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! मम सर्वस्वाधिपते ? त्वम् प्रसद्य प्रसाद-मूरीकृत्य, नानारत्नद्युतिततिकृतस्फारचित्रम् नाना-रत्नानां बहुविधमणीनां द्युतिततिभिः कान्तिसमूहैः कृतं विहितं स्फारम् अत्यन्तं चित्रम् कल्माषं, पवित्रं शुद्धम् अनुपमम् नास्ति उपमा सादृश्यं यस्य तादृशम्, इदं प्रत्यक्ष

निर्दिश्यमानम् सिंहासनम् सिंहोपलक्षितमासनम् स्वर्णनिर्मितं नृपयोग्यमासनम् आश्रय जुषस्व येन आसनेन स्निग्धम् स्निह्यते स्म इति सकलजनप्रेमास्पदीभूतम्, ते तव वपुः शरीरम् गोपवेषस्य गोपालशरीरधारिणः विष्णोः श्रीकृष्णस्य (वपुः) स्फुरितरुचिना विकासिकान्तिना बर्हेण मयूरपिच्छेन इव यथा उपचितां समृद्धाम् कान्तिम् कमनीयताम् आपत्स्यते प्राप्स्यति ।

यथा बर्हनिमित्तेन चित्रेणापीडेन श्रीकृष्णस्य शोभासीत् तथैव बहुरत्नचित्रितेऽस्मिन् सिंहासने समासीनस्य तवापि स्यादिति भावः ।

विशेषः—यद्यपि यतिभावापन्नस्य स्वर्णनिर्मिते आसने समुपवेशनमनुचितम्, तथापि यतिभावत्यागस्यैव प्रार्थ्यमानतया इदमपि वचनं तत्परमेव । तथा च सिंहासनोपवेशनेन यतिभावत्यागेन सह गृहस्थतायां शोभाऽपिभाविनीति सूच्यते ।

मेघदूते पञ्चदशपद्ये चतुर्थचरणोऽयं समानार्थ एव तत्रापि । उपमालङ्कारः । यथा श्रीकृष्णस्य स्निग्धं वपुर्बर्हेण कान्तिमायातम्, तथा तव वपुः सिंहासनेनेति साम्यस्य विवक्षितत्वात् ॥ १५ ॥

एतावताऽप्यस्निह्यन्तं भूयोऽपि अभिमुखी करोति—

मन्ये जज्ञे कुलिशकठिनं तावकीनं हृदेत-
द्यस्मादस्मानपि नहि दृशा स्निग्धया पश्यसि त्वम् ।
पश्येयं त्वां वदति सरसं सारिका देव ! मा मा,
किञ्चित् पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥

अन्वय.—

'तावकीनम् एतत् हृत् कुलिशकठिनं जज्ञे (इति) मन्ये, यस्मात् त्वम् अस्मान् अपि स्निग्धया दृशा नहि पश्यसि, हे देव ! पश्य, इयं सारिका किञ्चित् पश्चात् लघुगतिः (त्वम्) भूयः उत्तरेण एव मा मा व्रज' इति सरसं वदति, इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

तावकीनम् तव इदम् युष्मद् शब्दादिदमर्थे शेषे वा युष्मदस्मदो० [४-३-६७] इतीनञि तवकादेशे आदि स्वरवृद्धौ च तावकीनमिति, **एतत्** अनुभूयमानं **हृत्** अन्तः करणम् **कुलिशकठिनम्** कुलिशवत् वज्रवत् कठिनं कठोरं **जज्ञे** जातम् (इति) **मन्ये** उत्प्रेक्षे, **यस्मात्** हेतोः **त्वम्** **अस्मान्** पूर्वं तव प्राणप्रियतया विख्यातान् तव प्रियदारान् **अपि** किमुतान्यं परिजनमित्यपिना व्यज्यते, **स्निग्धया** स्नेहार्द्रया **दृशा** दृष्ट्या **नहि** नैनं **पश्यसि** अवलोकयसि । **हे देव !** सर्वविधक्रीडाभिज्ञ ! द्युतिमन् ! इति वा, **पश्य** अवलोकय **इयं** प्रत्यक्षदृश्यमाना **सारिका** शुकवधूः

"किञ्चित् पश्चात् स्वल्पकालानन्तरमेव लघुगतिः त्वरित-गमनः सन् भूयः पुनः उत्तरेण एव उत्तरां दिशमाश्रित्य **मा मा नैव नैव व्रज गच्छ**'' (इति) **सरसं सस्नेहं वदति** कथयति। अस्माकं त्वयि स्नेहस्य का कथा, मदीयेयं सारि-काऽपि त्वय्येवं स्निह्यतीति त्वयाऽपि सर्वोऽयं परिजनः स्निग्धया दृशाऽवश्यमवलोकनीय इति भावः।

विशेषः—मदीया सारिकाऽपि त्वां पुनर्गेहत्यागं नेहते इति मम तु तत्र विषये कोऽभिप्राय इति विनाऽपि कथनं त्वया ज्ञातव्यमेव। एवं च कुतोऽपि कारणात् जातं हृदय-काठिन्यं परिहृत्य स्नेहेन वर्त्तितव्यं भवतीति कोशाया आकूतम्।

मेघदूते मेघं प्रति उत्तर दिशैव गमनाय प्रयुक्तस्य षोडश-पद्यस्य चतुर्थचरणस्य समस्या पूर्त्तिरियं माशब्दयोजनया प्रकृते गमन-निषेधे पर्यवसानम् ॥ १८ ॥

आस्तां चेतनस्नेहकथाऽचेतनस्यापि सैव स्थितिरित्याह—

आलापैस्त्वां मृगय मुदितः कोमलैः कोकिलायाः,
क्रीडारामो भवदुपचितः स्वागतं पृच्छतीव।
नो नीचोऽपि प्रयणानिभृते भाग्यलभ्ये चिराद्वा,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः? ॥१७॥

अन्वयः—

'मुदितः भवदुपचितः क्रीडारामः कोमलैः कोकिलायाः आलापैः त्वां स्वागतं पृच्छति इव, वा भाग्यलभ्ये प्रणय निभृते मित्रे चिरात् प्राप्ते नीचः अपि विमुखः नो भवति, यः तथा उच्चैः (सः) किम् पुनः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

'मुदितः बहुकालानन्तरं भवदागमनं दृष्ट्वा जातहर्षः, भवदुपचितः भवता त्वया उपचितः वृद्धिं नीतः क्रीडा रामः क्रीडार्थं निर्मित आरामः उपवनम् कोमलैः मृदुलैः कोकिलायाः पिक्या आलापैः सस्वरवचनैः त्वां भवन्तं स्वागतम् सुखपूर्वकमागमनम् (अभून्नवेति ?) आङ् पूर्वकाद् गमे भावे क्लीबे क्तः, पृच्छति ज्ञातुमिच्छति इव इत्युत्प्रेक्षा । तां समर्थयति-वा अथवा भाग्यलभ्ये भाग्येन दैवानुकूल्येन लभ्ये प्राप्तव्ये प्रणयनिभृते गाढप्रेम्णा निश्चले मित्रे सुहृदि हितकारके चिरात् बहुकालानन्तरं प्राप्ते आगते सति, नीचः प्रकृत्या स्वरूपेण वा हीनः अपि (जनः) विमुखः सत्कारपराङ्मुखो न भवति यः (क्रीडा रामः) तथा तेन विज्ञातेन प्रकारेण उच्चैः उन्नतः (सः) किम् पुनः विमुखो भवतीति कथं सम्भाव्यत इति भावः ।

विशेषः—अचेतनोऽपि क्रीडारामः कोकिलवाचा वदन् तत्र स्वागतं पृच्छतीवेति सम्भाव्यते इति । स्वाभाविकस्य

कोकिलवचनस्य क्रीडारामकर्तृक स्वागत प्रश्नत्वेन सम्भाव-नेति उत्प्रेक्षालङ्कारः पूर्वार्द्धे, "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मनेति तल्लक्षणात् ।

प्रकृतस्य प्रकरणप्राप्तस्य वस्तुनः परात्मना अप्रकृतत्वेन सम्भावनम्-उत्प्रेक्षाऽलङ्कार इति तदर्थः । उत्तरार्द्धे च स्वागत पृच्छायाः विशेषरूपायाः सामान्यरूपेण नीचस्यापि विमुखी-भावाभावरूपेण वैधर्म्येण समर्थनमित्यर्थान्तरन्यासालङ्कारः, "सामान्यं विशेषेण विशेषस्ते न वा यदि कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते । यत्सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा" इति तल्लक्षणात् । सामान्यं विशेषेण, विशेषः सामान्येन, कार्यं कारणेन, कारणं च कार्येण—साधर्म्येण वैधर्म्येण वा समर्थ्यते सोऽर्थान्तरन्यास नितियावत् ।

मेघदूतीयसप्तदशपद्यस्य चतुर्थचरणस्य समस्यापूर्ति रियम् ॥ १७ ॥

एतावताप्य स्निह्यन्तं मातृभक्त्या बन्धुमाह—

दध्रे मासान्नव किल मया मध्यमध्ये सुधीमन् ?,
वृद्धिं नीतः सरसमधुराहारयोगाद् भवान् वा ।
गेहस्थोऽपि प्रिय ! गुरुगुणां मातरं मानयैनां,
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥ १८ ॥

अन्वयः—

'हे सुधीमन् ! भवान् यया नव मासान् मध्यमध्ये दध्रे, वा सरसमधुराहारयोगात् वृद्धिं नीतः, हे प्रिय ! गेहस्थः एनां गुरुगुणां मातरम् अपि मानय, सद्भावार्द्रः उपकारः महत्सु न चिरेण फलति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **सुधीमन्** ! धीरस्ति अस्येति धीमान् शोभनः धीमान् सुधीमान् तदामन्त्रणम्, **भवान्** स्थूलभद्रः **यया** मात्रा **नव मासान्** मासनवकम् अभिव्याप्य "कालाध्वनो र्व्याप्तौ [२-२-४२]" इति द्वितीया विभक्तिः **मध्यमध्ये** मध्यस्य शरीरमध्यभागस्य उदरस्य मध्ये अन्तः **दध्रे** धृतः **वा** किञ्च **सरसमधुराहारयोगात्** रसेन आस्वादेन, अथ च आहारपरिणामजन्येन धातुविशेषेण सह वर्तते इति सरसः स चासौ मधुरश्चाहारः भोजनं तस्य योगात् उपयोगात् **वृद्धिं** शरीरसमृद्धिं **नीतः** प्रापितः, हे **प्रिय** ! प्रेमास्पदभूत ! **गेहस्थः** गृहे तिष्ठन् **एनां** पूर्वोद्दिष्टां **गुरुगुणाम्** गुरोः ज्ञान प्रदस्य गुणाः यस्यां ताम् **मातरम्** जननीम् **मानयस्व** सत्कुरुष्व, **सद्भावार्द्रः** सद्भावेन निष्कपटाशयेन आर्द्रः सस्नेहः **उपकारः महत्सु** श्रेष्ठजनेषु **न चिरेण** शीघ्रम् **फलति** प्रत्युपकाररूपेण परिणमते ।

विशेषः—मातुर्महान्तमुपकारं प्रत्युपकर्तुमपि तव गृहे स्थितिरावश्यकीति मत्वा यावत् माताजीवति तावत् त्वया गृहेऽवश्यं स्थेयम्। अस्यार्थस्य विशेषरूपस्य, सामान्येन महत्सुकृत उपकारः शीघ्रमेव फलतीति कथनेन समर्थन-मित्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। लक्षणन्तस्य प्रागेव प्रतिपादि-तम्। मेघदूतेऽपि समानाशयक एवायं चतुर्थः पादः सम-स्यया पूरितोऽत्र ॥ १८ ॥

इह स्थितेन त्वयाऽस्य गृहस्य शोभावृद्धिः स्यादिति प्ररोचयति—

त्वय्यायाते धरणिरमणीसारभृङ्गाररूपे,
प्रासादोऽयं प्रिय ! निजरुचा जेष्यति स्वर्गलोकम्।
विष्वक्शुद्धस्फटिकरचितस्त्विन्द्रनीलाग्रभागो,
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ १९ ॥

अन्वयः—

'हे प्रिय ! धरणिरमणीसारभृङ्गाररूपे त्वयि आयाते, विष्वक्शुद्धस्फटिकरचितः इन्द्रनीलाग्रभागः मध्ये श्यामः शेषविस्तारपाण्डुः भुवः स्तन इव अयं प्रासादः तु निजरुचा स्वर्गलोकं जेष्यति' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे प्रिय ! प्रीतिदायक ! धरणिरमणीसारशृङ्गाररूपे धरति लोकान् इति धरणिः "ऋदृसृ० [उणा० ४५१]" इत्यणिः, पृथ्वी, सैव रमणी, रमयति पतिम् इति ण्यन्ताद-नटि रमणी स्त्री, तस्याः सारशृङ्गाररूपे उत्तमालङ्कारतुल्ये त्वयि भवति आयाते स्वस्मिन् प्राप्ते सति विष्वक् सर्वतः शुद्धस्फटिकेन विमलस्फटिकोपलेन रचितः निर्मितः, इन्द्र-नीलाग्रभागः इन्द्रनीलमणिनिर्मितः अग्रभागः शिखरभागो यस्य सः, मध्ये श्यामः कृष्णवर्णः शेषविस्तारपाण्डुः शेषे मध्यातिरिक्ते विस्तारे परिणाहे पाण्डुः गौरवर्णः भुवः पृथिव्याः स्तनः कुच इव (प्रतीयमानः) अयम् प्रत्यक्षभूतः प्रासादः प्रसीदन्ति जनमनांसि अस्मिन् इत्यर्थे घञि उप-सर्गस्य दीर्घे प्रासादः अट्टः भूपगृहाकारं गृहम्, तु इति अन्य व्यवच्छेदार्थः स एवेत्यर्थः निजरुचा स्वशोभया स्वर्गलोकं दिवं जेष्यति अभिभविष्यति ।

विशेषः—

धरणिरेव रमणीति रूपकम्, भुवः स्तन इवेति चोत्प्रेक्षा, तयोश्च परस्पर निरपेक्षत्वेन भिन्नदेशत्वेन च स्वातन्त्र्येण स्थितिरिति ।

मेघदूते च मेघस्य पर्वतारोहणे तस्य पर्वतस्य शोभैव मुत्प्रेक्ष्यते, अत्र च प्रासादस्य सर्वतः स्वच्छस्येन्द्रनील-शिखरस्य स्वतो भुवः स्तनत्वमुत्प्रेक्ष्यते इति भेदः ॥ 'सम्भा-

वनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना' इति तल्लक्षणम् । प्रकृतस्य प्रासादस्य परात्मना भुवः स्तनत्वेन सम्भावना-दुत्प्रेक्षालङ्कार लक्षणसमन्वयः । धरणि रमणीत्यत्र प्रतीय-मानस्य रूपकालङ्कारस्य लक्षणम्—'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे' इति । विषय भूतायां धरण्यां अनुपह्नुत-रूपायां रमण्या आरोप इति लक्षणसङ्गतिः ॥'१॥

गृहसमीपस्थं विशेषं दर्शयन्ती प्ररोचयति—

क्रीडाशैले कलय विपुले निर्झरालीं किलैतां,
यत्रावाभ्यां श्रमहतिकृते क्रीडितं नाथ ! पूर्वम् ।
यामालोक्याकलयति कलं चित्रमत्रत्यलोको,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥२०॥

अन्वयः—

'हे नाथ ! यत्र आवाभ्यां श्रमहतिकृते पूर्वं क्रीडितम्, (तत्र) विपुले क्रीडाशैले एतां निर्झरालीं कलय किल, अत्र-त्यलोकः याम् गजस्य अङ्के भक्तिच्छेदैः विरचितां भूतिम् इव आलोक्य चित्रं आकलयति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे नाथ ! स्वामिन् !, यत्र क्रीडाशैले आवाभ्यां मया त्वया च श्रमहतिकृते श्रमस्य रतिक्रीडाजातशैथिल्यस्य

हृतेः नाशस्य कृते हेतोः पूर्वं त्वत प्रव्रजनात् प्राक्समये क्रीडितम् विनोदः कृतः (तत्र) विपुले विस्तृते क्रीडाशैले क्रीडार्थमेव निर्मिते कृत्रिम पर्वते एनां प्रत्यक्षदृश्यमानां निर्झरालीम् कृत्रिम जलप्रपाततततिम् कलय अवलोकय किल निश्चयेन, अत्रत्यलोक इहस्थजनसमूहः याम् निर्झरालीम् गजस्य करिणः अङ्गे शरीरे भक्तिच्छेदैः भक्तीनां रचना रेखाणां ("भक्तिर्निषेवणे भागे रचनायाम्" इति शब्दार्णवः) छेदैः विभागैः विरचिताम् निर्मिताम् भूतिं शृङ्गारम् ("भूतिर्मातङ्गशृङ्गारे जातौ भस्मनि सम्पदि" इति विश्वः) इव आलोक्य दृष्ट्वा चित्रं आश्चर्यम् आकलयति प्राप्नोति।

विशेषः—

यथा गजस्य शरीरे रेखाभिः शृङ्गार रचना भवति तथैव गजोपमस्य क्रीडाशैलस्योपरि श्वेताः पानीयधाराः प्रवहन्तीति लोकश्चित्रीयते इति भावः। अत्र क्रीडाशैलस्योपमानं गजः, निर्झराल्या उपमानं भूतिरिति पूर्णोपमालङ्कारः। अत्रत्यश्चतुर्थचरणः समानार्थ एव मेघदूतेऽपि दृश्यते ॥२०॥

अथ धनेनापि प्रलोभयति—

मा मुञ्चेदं धनमनिधनं नाथ ! सम्पूरिताशं,
सर्वं चैनं निजपरिजनं त्वय्यतिस्नेहयुक्तम्।

नीतिज्ञोऽपि प्रथितमहिमन् ! वेत्सि नैतत्कथं यत्?
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२१॥

अन्वयः—

'हे नाथ ! स्वामिन् ! अनिधनम् सम्पूरिताशम् इदं धनम्, त्वयि अतिस्नेहयुक्तं सर्वम् एनं निजपरिजनं च मा मुञ्च । हे प्रथित महिमन् ! नीतिज्ञः अपि एतत् कथं न वेत्सि यत्—सर्वः रिक्तः लघुः भवति, हि पूर्णता गौरवाय (भवति), इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे नाथ ! स्वामिन् ! अनिधनम् नास्ति निधनं विनाशः समाप्ति र्वा यस्य तादृशं क्रियताऽपि व्ययेन न क्षयणीयम्, सम्पूरिताशम् सम्पूरिताः सम्यक् सम्पादिताः आशाः अभिलाषाः येन तादृशम् इदं प्रत्यक्षवर्त्ति धनं वित्तम्, त्वयि भवति अतिस्नेहयुक्तम् अतिशयितेन स्नेहेन प्रेम्णा युक्तम्, सर्वम् अखिलम् एनम् पूर्वमपि चर्चितम् प्रत्यक्षतोऽमितो दृश्यमानम् निजपरिजनं स्वसेवकपरिवारम् च मा मुञ्च न परित्यज । उक्तमर्थं समर्थयितुमाह—हे प्रथितमहिमन् ! प्रथितो विख्यातो महिमा माहात्म्यं यस्य सः तदामन्त्रणम्, नीतिज्ञः सर्वविधलोकनयाभिज्ञः (सन्) अपि एतत् अग्रे कथ्यमानम् कथं कुतो हेतोः न वेत्सि न जानासि यत्, रिक्तः धनादिरहितः

सर्वः जनः लघुः जनैरनायासेनोत्तोल्यः अनादरणीय इति यावत् भवति जायते, हि यतः पूर्णता वित्तादिभावत्वं गौरवाय अनुत्तोल्यतायै अनभिभवाय वा (भवति) तथा च धनहीनस्य कस्यापि गौरवं न भवतीति गौरव रक्षणाय धनत्यागो नोचित इति विशकलिताभिप्रायः ॥

विशेषः—

इदं मदीयं त्वदीयं च सर्वं त्वदीयमेवेति मिलित्वा सर्वमिदमक्षयं धनम्, अतिशयस्नेहभाजनमयं स्वीयः परिजनश्च कथमपि न त्याज्यः। यतो धनेन सर्वाशापूर्त्तिः सम्भाव्यते, परिजनेन च सर्वविधसाहित्य सम्पत्स्यते। धनहीनो जनो लोके लाघवं भजत इति विशेषरूपोऽर्थः सामान्येन रिक्तस्य लघुत्वकथनेन समर्थित इत्यर्थान्तर न्यासोऽलङ्कारः। लक्षणमुक्तं प्राक्। मेघदूतेऽपि समानार्थ एवायं चतुर्थः पादो मेघस्य जलानाहरणे वायूद्धूतत्व सम्भावना समर्थनायोक्तः ॥ २१ ॥

न केवलं गृहे वास एवावश्यकोऽपि तु मन्त्रित्वाधिकार स्वीकारोऽपि पित्र्य इत्याह—

व्यापारं मा परिहर वर ! त्वं नृपश्रीशमं तं,
प्राप्य क्लेशोपममिममहो ! संयमं मन्त्रिपुत्र ! ।
मुञ्चेच्चिन्तामणिमिह हि कः काचमादाय यस्मिन् ?
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२२॥

अन्वयः—

'हे वर ! मन्त्रिपुत्र ! त्वम् इमम् क्लेशोपमं संयमं प्राप्य, नृपश्रीशमं तं व्यापारं मा परिहर, यस्मिन् जललव-मुचः सारङ्गाः ते मार्गम् सूचयिष्यन्ति, हि इह काचम् आदाय चिन्तामणिम् कः मुञ्चेत्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **वर** ! सर्वैं र्वरणीय ! श्रेष्ठ ! **मन्त्रिपुत्र** ! मन्त्रिणः नन्दराजसचिवस्य शकटालस्य **पुत्रः** सुतः तदामन्त्रणम्, **त्वम्** भवान् **इमम्** प्रत्यक्षवर्त्तमानम् **क्लेशोपमम्** क्लिश्यते दूयते अस्मिन् इति क्लेशः कायमनः खेदः तेन सहोपमा सादृश्यं यस्य तादृशम् **संयमम्** इन्द्रियनिग्रहं **प्राप्य** स्वीकृत्य **नृपश्रीसम** राजलक्ष्मीसदृशं **तं** पूर्वप्राप्त **व्यापारं** मन्त्रिनियोगं **मा** नैव **परिहर** त्यज, **यस्मिन्** व्यापारे स्वीकृते **जललवमुचः** तोयबिन्दुसेचकाः **सारङ्गा** सारं सलीलं गच्छन्तीति सारोपपदाद् गमे र्डः मागमश्च, सरन्ति इत्यर्थे वा "मृकृन्दृभ्यो णित् [उणा० ९९]" इति णिदङ्गः गजाः (सारङ्ग श्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे इति विश्वः) **ते** तव **मार्गं** गतागतपथं **सूचयिष्यन्ति** आवेदयिष्यन्ति, **हि** यस्मात् **इह** संसारे **काचम्** सीमकम् **आदाय** स्वीकृत्य **चिन्तामणिम्** रत्नविशेषं चिन्तितवस्तु-मात्र–सकलवस्तुप्रदायकम् **कः** जनः **मुञ्चेत्** त्यजेत् ।

विशेषः—गृहे तिष्ठता त्वया राजलक्ष्मीसदृशं मन्त्रिपदमपि स्वीकार्यमेव, यत्र स्थितस्त्वं गर्जे यास्यसि, तदग्रे च क्लेशाधायको संयमिमार्गस्वीकारः चिन्तामणिं विहाय काचस्वीकार सदृश एवेति भावः।

अथ चतुर्थचरणो मेघदूतेऽर्थतः समानोऽपि तात्पर्यतो भिन्नार्थकः समस्यया पूरितोऽत्र ॥ २२ ॥

स्वर्गार्थं तपस्यतस्ते ततोऽप्यधिकं सुखमिहैव सुलभमित्याह—

तीव्रं यत्त्वं तपसि सुतपो देवलोकाशयेह,
स्त्रीसम्भोगादपरमरिरे ! नास्ति तत्रापि सौख्यम्।
गेहस्थस्तद्रचय सुचिरं स्वर्गसौख्याधिकानि,
सोत्कण्ठानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥२३॥

अन्वयः—

'त्वम् देवलोकाशया इह यत् तीव्रं सुतपः तपसि, अरिरे ? तत्रापि स्त्रीसम्भोगाद् अपरम् सौख्यम् न अस्ति, तत् गेहस्थः स्वर्गसौख्याधिकानि सोत्कण्ठानि प्रियसहचरी सम्भ्रमालिङ्गितानि रचय' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

त्वं भवान् देवलोकाशया देवलोकस्य स्वर्गस्य आशा प्राप्तीच्छा तया इह संसारे यत् तीव्रं कठिनं सुतपः

उत्तमं तपः **तपसि** आचरसि, **अरिरे !** आश्चर्यम् (आश्चर्यद्योतकस्य लौकिकस्यैवमाकारस्य शब्दस्यानुकरणमेतत्) **तत्रापि** देवलोकेऽपि स्त्रीसम्भोगाद् स्त्रिया स्त्रीभि र्वा सह विलासाद् **अपरम्** नास्ति परम् उत्कृष्टं यस्मात् तत् अतिशयितम् **सौख्यम्** सुखमेव सौख्यम् भेषजादित्वाद् ष्यण्, **नास्ति** न विद्यते, **तत्** तस्मात् **गेहस्थः** गृह एव तिष्ठन् **स्वर्गसौख्याधिकानि** स्वर्गस्य देवलोकस्य सौख्येभ्यः सुखभोगेभ्योऽपि अधिकानि उत्कृष्टानि, **सोत्कण्ठानि** उत्कण्ठया औत्सुक्येन सहितानि **प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गनानि** प्रियाणां वल्लभानां सहचरीणां सहतिष्ठन्तीनां स्त्रीणां सम्भ्रमेण कामपीडाजन्यत्वरया आलिङ्गनानि स्वयंग्रहाश्लेषान् **रचय** विधेहि ।

विशेषः—स्वर्गेऽपि स्त्रीसम्भोग एव सुखसीमा, स च त्वया गृहस्थेन सता सुप्राप एवेति तदर्थं तपस्तप्त्वाऽलम् । मेघदूतेऽपि समानाशयक एवायं चतुर्थश्चरणः ॥ २३ ॥

ननु लौकिकं सौख्यमल्पकालिकमिति चेदत्राह—

नीत्वा नीत्वा कतिपयदिनं यौवनं गेहवासे,
भुक्त्वा भोगानवनिवलये नाथ ! तत्वा स्वकीर्त्तिम् ।
वार्द्धक्येऽथ प्रिय ! निजजनैः साश्रुदृग्भिर्व्रताय,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२४॥

अन्वयः—

'हे नाथ ! नीत्या कतिपयदिनं यौवनं गेहवासे नीत्वा, भोगान् भुक्त्वा, अवनिवलये स्वकीर्त्तिम् तत्वा, अथ हे प्रिय ! वार्द्धक्ये साश्रुदृग्भिः निजजनैः प्रत्युद्यातः भवान् व्रताय आशु गन्तुम् कथमपि व्यवस्येत्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे नाथ ! स्वामिन् ! **नीत्या** नयेन **कतिपयदिनम्** कतिपयानि परिगणितानि दिनानि दिवसाः यस्मिन् तादृशं **यौवनं** तारुण्यं **गेहवासे** गृहस्थितौ **नीत्वा** अतिवाह्य, **भोगान्** स्रक्चन्दनवनिताद्युपयोगान् **भुक्त्वा** अनुभूय, **अवनिवलये** भूमितले **स्वकीर्त्तिम्** स्वीयं यशः **तत्वा** विस्तार्य; **अथ** तदनन्तरम् **हे प्रिय !** वल्लभ ! **वार्द्धक्ये** वृद्धस्य भावः वार्द्धकम् चोरादित्वादकञ्, तदेव वार्द्धक्यम् तस्मिन् स्थाविरे भावे सम्पन्ने सति **साश्रुदृग्भिः** अश्रुभिनेत्रजलैः सहिता दृशो नेत्राणि येषां तादृशैः **निजजनैः** स्वीयबन्धुभिः **प्रत्युद्यातः** कृतानुगमनः **भवान्** त्वम् **व्रताय** संयमाय **आशु** शीघ्रं **गन्तुम्** व्रजितुम् **कथमपि** केनापि प्रकारेण (न तु सुखेन) **व्यवस्येत्** उद्युञ्जीत ।

विशेषः—लौकिक सुखोपभोगसमयो यौवनं, यद्यपि न स्थिरं; तथापि यावत् तदस्ति तावत् भोगान् भुक्त्वा, इह

लोकेऽपि स्वयशो विस्तार्य, समायाते वृद्धत्वे स्थायि परलोक-सुखसाधनस्य व्रतस्यापि विधानं सम्भाव्यत एवेति, यौवने तदर्थं प्रयासो नोचित इति भावः ।

इह 'वर्द्धके' इत्येव स्थाविरार्थके साधु, तथापि स्वार्थे ष्यणा निर्देश श्छन्दोऽनुरोधेन कविस्वातन्त्र्यं द्योतयति । मेघदूतेऽपि समानार्थ एवात्रत्यश्चतुर्थः पादः । क्रमेणैवाश्रमाणां भोग उचित इति गार्हस्थ्यं निर्वाह्य मुनित्वमाश्रयणीयमिति कोशाया आकूतम् । भुक्तभोगस्य हि तदाकर्षणं श्लथीभवतीति, तपः सुकरं भवति । अन्यथा कदाचिदारूढ पतितत्व-सम्भावनाऽपीति हृदयम् ॥ २४ ॥

पुनरपि बान्धवत्यागस्यानौचित्यप्रदर्शनद्वारा गृहत्यागानौचित्यं प्रकटयति—

तातै याते त्रिदशभवनं युष्मदाशानिबद्धा,
ये जीवन्ति प्रिय ! परिहरंस्तान्न किं लज्जसे त्वम् ? ।
आयाभावात् त्वयि सति गते बान्धवास्तेऽस्तवित्ताः,
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२५॥

अन्वयः—

हे प्रिय ! ताते त्रिदशभवनं याते, ये युष्मदाशानिबद्धा जीवन्ति, तान् परिहरन् त्वं न लज्जसे किम् ? त्वयि गते

सति अस्तवित्ताः दशार्णाः ते बान्धवाः कतिपयदिनस्थायि-हंसाः सम्पत्स्यन्ते' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे **प्रिय**! प्रेमास्पदभूत! **ताते** पितरि शकटाले **त्रिदशभवनम्** तिस्रो दशाः (बाल्य-कौमार-यौवनानि) वयोऽवस्था येषां ते त्रिदशाः त्रिंशद्वर्षा मनुष्ययुवानः, तादृशा इव सदा ये विद्यन्ते ते, देवाः तेषां भवनम् गृहं स्वर्गमित्यर्थः, **याते** गते (सति) ये बान्धवाः **युष्मदाशा-निबद्धाः** तव भवतः आशया आश्रयेच्छया निबद्धाः कृत जीवनबन्धनाः (सन्तः) **जीवन्ति** प्राणान् धारयन्ति, **तान् बान्धवान् परिहरन्** परित्यजन् **त्वं** भवान् स्थूलभद्रः **न लज्जसे** न त्रपसे **किम्** इति प्रश्ने, अवश्यमेव लज्जसे इत्यर्थः **त्वयि** भवति **गते** प्रव्रजिते **सति अस्तवित्ताः** क्षीणधनाः; **दशार्णाः** दशानाम् दशसङ्ख्ययाऽनुमितानामुत्तमर्णानाम् ऋणं देयद्रव्यमस्ति येषां तादृशाः सन्तः **ते** बान्धवाः **कतिपयस्थायिहंसाः** कतिपयदिनं परिगणितवासरान् यावत् स्थायिनः स्थितिशीला हंसाः प्राणा येषां तादृशा आसन्नमृत्यव इत्यर्थः, **सम्पत्स्यन्ते** भविष्यन्ति।

विशेषः—अमात्यवृत्तिरेव तव कुलस्य जीविका, सा च यावत् त्वदीयः पिता जीवन्नासीत् तावत्, तेन परिपालिता

तस्मिंश्च स्वर्गते सति, त्वयि च तत्पदं परित्यज्य प्रव्रजिते सति, तातानन्तरमयमेवास्मान् पालयिष्यतीत्याशया जीवन्त स्ते वान्यथा अद्यावधि कथमपि सन्ति। त्वयि चात्यन्तमेव गते सति मध्ये ऋणं गृहीत्वा कालमतिवाह्यान्तः क्षीण-वित्तास्तेऽग्रे ऋणस्याप्यलभ्यत्वेनावश्यं शीघ्रमेव प्राणै र्वियोक्ष्यन्त इति तेषां त्यागस्ते लज्जावहत्वादनुचित इति भावः।

मेघदूतेऽत्रत्य श्चतुर्थचरणो भिन्नार्थकः, तत्र हि दशार्णा नाम जनपदः, तत्र च मेघे प्राप्ते सति हंसानामन्यत्र गमनस्य नैयत्यात्, तस्य कतिपयदिनस्थायिहंसत्वमुक्तम्, इह च तदन्यार्थविवक्षया समस्या पूर्त्तिः कृतेति ज्ञेयम् ॥२५॥

अथ दृष्टान्तप्रदर्शनेन व्रतत्यागपूर्वकं भोगासक्तौ प्रेरयति—

भुङ्क्ते भोगान् किमिह न भवान् नन्दिषेणोऽपि तस्थौ ?
वेश्याऽऽवासे चिरविरचितं प्रोज्झ्य चारित्रमुच्चैः।
मुह्येत् को नो शुचि सुललितं वीक्ष्य वा वारनार्याः,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ? ॥२६॥

अन्वयः—

भवान् इह भोगान् किं न भुङ्क्ते ? नन्दिषेणः अपि चिरविरचितम् उच्चैः चारित्रं प्रोज्झ्य वेश्याऽऽवासे न तस्थौ

किम्? वा, वेत्रवत्याः चलोर्मि शुचि सुललितं पयः इव वारनार्याः सभ्रूभङ्गं मुखं वीक्ष्य कः नो मुह्येत्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

भवान् भातीत्यर्थे भा धातोः डवतुना प्रत्ययेन निष्पन्नो भवच्छब्दः युष्मदर्थे प्रयुक्तः, इह संसारे मदीयाऽऽवासे वा **भोगान्** भुज्यन्ते इति भोगाः 'भुजेः कर्मणि घञ्' स्रक्चन्दनवनितादयो विषयाः तान् किं कुतो हेतोः **न भुङ्क्ते** उपभुङ्क्ते? ननु गृहीत चारित्रस्य मम कथं भोगोपभोगौचित्यमित्याशङ्कायां दृष्टान्तेन तदौचित्यं साधयति-नन्दिषेणः अपि इत्यादिना। **नन्दिषेणः** राजगृहनगर्या राज्ञः श्रेणिकस्य पुत्रः **अपि चिरविरचितम्** अनेकजन्मार्जितम् **उच्चैः** उत्तमम् **चारित्रम्** चर्यते अनुष्ठीयते इति चरित्रम्, चरतेः 'लूधूसूखनिचरसहार्त्तेः [५-२-८७]' इति इत्रः, चरित्रमेव चारित्रम् प्रज्ञादित्वात् अण्,—शीलम्, **प्रोज्झ्य** परित्यज्य **वेश्याऽऽवासे** वेश्यायाः गणिकाया आवासे गृहे (तया सह रमणार्थम्) **न तस्थौ** स्थितः किम्? इति काकु प्रश्ने, अपि तु स्थित एवेति भावः। अर्थान्तरन्यासालङ्कारेण तत् समर्थयति—**वा** अथवा **वेत्रवत्या** एतन्नामकनद्याः **चलोर्मि** चलाः चञ्चला ऊर्मयः तरङ्गा यत्र तथाभूतम् **शुचि** स्वच्छम् पवित्रं वा **सुललितं** बहुसुन्दरम् **पयः** जलम् **इव** यथा, **वारनार्याः** वेश्यायाः **सभ्रूभङ्गम्**

भ्रूभङ्गैः कटाक्षविक्षेपैः सहितम् मुखम् वदनं वीक्ष्य अवलोक्य कः जनः न मुह्येत् चेतो वैकृतं प्राप्नुयात् इति काकु प्रश्नेन सर्व एव जनः तादृशं गणिकामुखं वीक्ष्य मुह्येदेवेति व्यज्यते ।

विशेषः—पूर्वोक्तरीत्या गृहस्थितिप्रार्थनया भोगप्रवर्त्तनेनापि चारित्रे दृढमतिं श्रीनन्दिषेणदृष्टान्तेन प्ररोचयति । नन्दिषेणो हि राजगृहनगर्यां राज्ञः श्रेणिकस्य पुत्रः पूर्वजन्मार्जितपुण्यप्रभावेण वैभारगिरौ भगवतः श्रीमहावीरस्वामिनः सदुपदेशेन प्राप्तवैराग्यः चारित्रग्रहणे तत्परः शासनदेवेन निषिद्धः—

यत् तव बहूनि भोगकर्माणि अवशिष्टानि, अतः सम्प्रति चारित्रग्रहणं न युक्तम् । तथापि तेन दीक्षा गृहीता । पश्चात् भोगकर्मणामुदये सति कामविकाराभिभूत आतपनादिभिरनुष्ठितैरप्यशान्तचेता गिरिपतनायोद्यतः शासनदेव्या एवमुक्तः—

विना भोगैस्त्वं मर्तुं न शक्नोषि इति । ततो भिक्षार्थं परिभ्रमन्नसौ कस्याश्चिद् वेश्याया गृहं प्राप्तः । तया स तथा मोहितो यथा तद्गृह एव स्थित्वा भोगान् बुभुजे । पश्चात् तत्र स्थितोऽपि प्रतिदिनं दश प्रतिबोध्याहं भोक्ष्यामीति कृतनियमः । कस्मिंश्चिद्दिने दशमश्रावकालाभे सति वेश्यया

त्वमेव दशमोऽसीत्युक्तः प्रतिबुद्धो दीक्षां गृहीत्वा तपस्यन् मुक्त इति पुरातनी कथा। तथैव त्वमपि भोगान् भुक्त्वा तदनु चारित्रं गृहीत्वा मोक्षं प्राप्स्येवेति साम्प्रतं भोगत्यागो न युक्त इति कोशाया आशयः।

अत्रत्य श्चतुर्थचरणो मेघदूते वेत्रवत्या नद्याः पयसः सभ्रूभङ्गेन मुखेन सह साम्यं प्रतिपादयति, अत्र तु मुखस्यैव पयसा सह साम्यमपेक्षितम्। यद्यपि इवादि शब्दा उपमा-वाचका यतः परं प्रयुज्यन्ते तस्यैवौपम्यं बोधयन्तीति शब्द-मर्यादया लभ्यते तथापीह समस्यापूर्तये कविना इव शब्दो भिन्नक्रमतया प्रयुक्त इतीव शब्दः पयः शब्दात् परतो योज-नीयो भवतीति विज्ञेयं विचारकैः॥ २६॥

अथोद्दीपनविभावं भोगयोग्यस्थानादि वर्णयति—

क्रीडाशैलो वर! गुरुरयं राजते ते पुरस्ता—
च्चक्रे केलिः किल सह मया यत्र चित्रा त्वया प्राक्।
स्निग्धच्छायैर्विमलसलिलैः सत्फलैर्यो जनाना—
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥२७॥

अन्वयः—

'हे वर! गुरुः अयं क्रीडाशैलः ते पुरस्तात् राजते, यत्र प्राक् त्वया मया सह चित्रा केलिः चक्रे किल।

यः स्निग्ध च्छायैः विमलसलिलैः सत्फलैः शिलावेश्मभिः जनानाम् उद्दामानि यौवनानि प्रथयति' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे वर! व्रियते प्रियत्वेन स्वीक्रियते इति वरः तदामन्त्रणम्, **गुरुः** विशालः **अयं** अग्रे दृश्यमानः **क्रीडाशैलः** क्रीडार्थं निर्मितः कृत्रिम पर्वतः **ते** भवतः **पुरस्तात्** समक्षं **राजते** शोभते। अस्य पूर्वोपभुक्तत्वेन परिचयं ददाति–**यत्र** पर्वते **प्राक्** यतिभावस्वीकारात् पूर्वं अर्थात् श्रीसम्भूतिविजयगुरुपार्श्वे दीक्षा ग्रहण पूर्वमित्यर्थः **त्वया** स्थूलभद्रेण **मया**–कोशया प्रियया**सह** सार्धं **चित्रा** अद्भुता **केलिः** रतिक्रीडा **चक्रे** कृता। **यः** क्रीडाशैलः **स्निग्धच्छायैः** स्निग्धा स्पृहणीया च्छाया अनातप प्रदेशो यत्र तादृशैः, **विमलजलैः** विमलानि अतिस्वच्छानि जलानि येषु तैः **सत्फलैः** सद्भिः स्वादिष्टतरैः फलैश्च (युक्तैः) **शिलावेश्मभिः** प्रस्तरागारैः **जनानाम्** एतत् प्रदेशवर्तिलोकानाम्, **उद्दामानि** उद्गतं निः सृतं दामप्रसरणनिवारकबन्धनरज्जुः येभ्यः तादृशानि-अप्रतिबद्धानि **यौवनानि** तारुण्यानि **प्रथयति** भोगेच्छाभि वृद्धया प्रख्यापयति।

विशेषः—भोगार्थमुपयुक्तस्थानमिदं क्रीडापर्वतरूपं प्राक्त्वयोरुपभुक्तमेव। अयं न केवलं तवैकस्यापि तु बहूनामत्रत्यानां

जनानां यौवनफलविषयोपभोगोपकारकतया यौवनस्य प्रख्यापकोऽस्ति । अतः पुनस्त्वयायं भोग्य इति भावः । मेघदूते पर्वतविशेषस्य प्रशंसायाम्-इदं पद्योत्तरार्धं प्रयुक्तम्—

"यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम्,
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभि यौवनानि" इति ।

अत्र शिलावेश्मनां पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारित्वेन तत्रत्य नागराणां पण्यस्त्रीरतिप्रसक्तत्वानुमापकत्वेन तेषामुद्दामयौवनख्यापकत्वं साधु घटते ।

अत्र तु शिलावेश्मनां सच्छायत्वेन सुजलत्वेन सफलत्वेन च न तथा रतिप्रसक्तयनुमानं सम्भाव्यते; तथापि एतादृशस्य वेश्मनो रत्युपकारकत्व सम्भावनया तत्र स्थितानां जनानां यौवनख्यापनयोग्यताऽस्तीति यथा कथञ्चित्तुर्थचरणार्थसङ्गति र्बोध्या ॥ २७ ॥

पूर्वत्र पद्ये जनानामिति क्रीडाशैलस्यास्य सर्वसाधारणत्वमुक्तमिति नेदृशे स्थाने प्रतिष्ठित पुरुषस्य विहारो युज्यते इति शङ्का सम्भवनाया निराशायात्र त्वदीयं स्वतन्त्रमेवोद्यानमेकान्तस्थानमस्तीति कथयति—

अस्मिन् सान्द्रद्रुमचयचिते पर्वते वर्त्तते ते,
क्रीडोद्यानं सुरवनसमं नाथ ! सर्वर्त्तुकाम्यम् ।

स्वेदं शीतो हरति सुरभिः संमतो यत्र वायु--
श्छायाऽऽदानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।२८

अन्वयः—

'सान्द्रद्रुमचयचिते अस्मिन् पर्वते हे नाथ ! ते सर्वर्त्तु-काख्यम् सुरवरसमं क्रीडोद्यानं वर्तते, यत्र शीतः सुरभिः संमतः छाया-दानात् क्षणपरिचितः वायुः, पुष्पलावीमुखानां स्वेदं हरति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

सान्द्रद्रुमचयचिते सान्द्रेण निबिडेन द्रुमाणां वृक्षाणां च येन समूहेन चिते व्याप्ते (अनेनास्य प्रच्छन्नत्वं ख्याप्यते) अस्मिन्, पूर्वनिर्दिष्टे पर्वते क्रीडाशैले, हे **नाथ** ! स्वामिन् ! ते भवतः **सर्वर्तुकाख्यम्** सर्वे वसन्तादयः षडपि ऋतवः यत्र (एककालावच्छेदेनेति शेषः) तत् 'सर्वर्तुकम्' इति आख्या नाम यस्य तत्, **सुरवनसमम्** देवोद्याननन्दनाख्य वनसदृशम् (तत्रापि सर्वेषामृतूनां सर्वदा सहावस्थितेः प्रसिद्धेः, तत्साम्येन पूर्वोक्तार्थे दार्ढ्यं द्योतितम्) **क्रीडोद्यानम्** लीलारामः **वर्त्तते** विद्यते, (इति स्मरणीयमिति भावः) ।

यत्र क्रीडोद्याने **शीतः** शीतलस्स्पर्शवान् **सुरभिः** सुगन्धः **संमतः** अनुकूलः **छाया-दानात्** छायायाः कान्त्या

दानात् वितरणात् क्षणपरिचितः किञ्चित् कालार्थं जात-परिचयः वायुः पवनः पुष्पलावीमुखानाम् पुष्पाणि लुनन्ति त्रोटयन्तीति पुष्पलाव्यो मालाकारपत्न्यः तासां मुखानाम् आननानां (सम्बधिनं) स्वेदं घर्मजलं हरति अपनयति ।

विशेषः—अत्र क्रीडाशैलस्य सान्द्रद्रुमचयचितत्वेनैव क्रीडायोग्यत्वं व्यक्तम् । तत्राऽपि स्वतन्त्रमुद्यानं सर्वर्तुरम्य-मति महद्‌दुद्दीपकम् । तत्र क्रीडाश्रमस्यापनोदको वायुरपि विद्यत एव । अत्र वायोः छाया-दातृत्वं तु श्रमक्लान्तानां पुष्पलावीनां श्रमापनोदनेन मुखकान्तिवर्धकत्वेनो पपन्नमेव । यश्च वायुः कान्तिप्रद इति विज्ञायते स परिचितो भवतीत्यपि युक्तमेव । अत्र मुद्रिते पुस्तके 'छायाऽऽदानात्' इति पाठो दृश्यते । आदानं च ग्रहणम् । तथा च वायोः छाया-ग्राहकत्वं कथमुपपद्यते इति शङ्का सञ्जायते । यदि च वृक्षच्छ-छाया स्थितानां पुष्पलावीनाम्—वृक्ष—शाखासञ्चालनेन तत्कृतानातपस्य वायुना ग्रहणं भवतीति वायोः छायाग्राहक-त्वमुपपाद्यते, भवति चैवमपि परिचयः । अपकारकोऽपि परिचिता भवति । एवञ्च क्षणपरिचित इति पदे 'क्षण'—शब्द प्रयोगोऽपि समुपपद्यते । छायाया हरणेन ताभिरयं वायुरेवा-स्माकं तापक इति बुध्यते । ततश्च छायाहरणेन कृतापकारो वायुः श्रमजल (स्वेद) हरणेनोपकृत्वाऽऽत्मानं निरपराधं

करोतीति वर्ण्यते तदा 'छायाऽऽदानात्' इति पाठोऽपि समीचीन एव ।

'श्रमस्वेदहरः' यथोक्त गुणविशिष्टो वायुरप्यत्र वहतीति, स्थानस्य भोगयोग्यतापि व्यज्यते ।

मेघदूते चात्रत्य श्चतुर्थश्चरणो मेघविशेषणत्वेनोपात्तः— स च स्वभावत एव यत्र प्रदेशे गच्छति तत्र छाया संजायते इति पुष्पलावीनां मुखानामुपरिछायाप्रदानात् मेघः परिचितो भवतीति स्पष्टम् । इह चायं चरणः पूर्वोक्त रीत्या वायु-विशेषणतयोपात्त इति विशेषः ॥ २८ ॥

पुनरपि क्रीडाशैलस्थे क्रीडोद्याने रमणाय प्रेरयति—

स्वामिन्नस्मिन् स्मरगृहसमे कानने तावकीने,
कामक्रीडां विदधति समं निर्जराः सुन्दरीभिः ।
स्नेहस्निग्धैस्त्वमिह रतिदैर्वीक्षितोऽपि प्रियाणां,
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२९॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन् ! स्मरगृहसमे तावकीने अस्मिन् कानने निर्जराः सुन्दरीभिः समं कामक्रीडां विदधति । इह त्वम्

स्नेहस्निग्धैः रतिदैः लोलापाङ्गैः प्रियाणां लोचनैः वीक्षितः अपि यदि न रमसे (तर्हि) वञ्चितः असि' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! हे नाथ ! स्मरगृहसमे स्मरस्य कामदेवस्य गृहेण भवनेन समे तुल्ये तावकीने तव इदं तावकीनम् तस्मिन् अस्मिन् प्रत्यक्ष दृष्टे कानने क्रीडोद्याने निर्जराः देवाः (अपि) सुन्दरीभिः स्वप्रियाभिः समं सह कामक्रीडां कन्दर्पसम्बन्धिविहारं विदधति कुर्वन्ति । देवैरपि कामक्रीडार्थमिदमुपयुज्यत इत्यहोऽस्य रमणीयतेति भावः । इह उद्याने त्वम् भवान् स्नेहस्निग्धैः प्रीति भावार्द्रैः रतिदैः रतिं शृङ्गाररसस्थायिभावं ददति उद्बोधयन्ति इति रतिदाः तथाभूतैः लोलापाङ्गैः लोलाश्चञ्चला अपाङ्गा दृक्कोणा येषु तादृशैः प्रियाणां स्निग्धानां स्त्रीणां लोचनैः नेत्रैः वीक्षितः अवलोकित अपि यदि चेत् न रमसे रतिक्रीडायां प्रवर्तसे (तर्हि) वञ्चितः फलशून्य असि भवसि । प्रियाणां स्निग्धा दृष्टि दुर्लभा तां प्राप्यापि यदि न सार्थयसि तर्हि तव पुंस्त्वमेव निष्फलमिति भावः ।

विशेषः—एतादृशे स्थाने प्रियाणामभिप्राय ज्ञात्वाऽवश्यमेव त्वया भोगानुष्ठानमुचितम् । उक्तं हि केनचित् 'अनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेव न संशय' इति । भोगावलीकर्म-

प्राप्ता भोगा अवश्यमेव भोक्तव्या इति कोशाभिप्रायः ॥२९॥

न केवलं प्रिया एव त्वां प्रवर्तयन्ति, अपि तु जडा वृक्षा वन्यपि त्वां स्वोपभोगाय प्रेरयतित्याह—

लोलच्छाखाशयविलसितैस्त्वामिवाकारयन्ती,
भृङ्गालापैरिव तव तपः साम्प्रतं वारयन्ती ।
वृक्षालीयं कुसुमपुलकं दर्शयन्तीव पश्य,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयि वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥३०॥

अन्वयः—

'इयं वृक्षाली लोलच्छाखाशयविलसितैः त्वाम् आकारयन्ती इव, भृङ्गालापैः साम्प्रतं तव तपः वारयन्ती इव, कुसुमपुलकं दर्शयन्ती इव (स्थिता इति त्वं) पश्य हि स्त्रीणां विभ्रमः प्रियेषु आद्यं प्रणयवचनं (भवति)' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

वृक्षाली वृक्षाणां तरूणाम्, आली पङ्क्तिः आलीवेत्युप मिति गर्भसमासः, **लोलच्छाखाशयविलसितैः** लोलन्त्यश्चञ्चलाः शाखा एव शयाः कराः तेषां विलसितैः विभ्रमैः त्वाम् भवन्तं आकारयन्ती आह्वयन्ती इव, **भृङ्गालापैः** भृङ्गाणां भ्रमराणाम् आलापैः शब्दैः साम्प्र-

तम् अस्मिन् समये तव भवतः तपः तपश्चर्यां वारयन्ती प्रतिषेधयन्ती इव, कुसुमपुलकं कुसुमानि पुष्पाण्येव पुलकं सात्विकविकारोत्पन्नरोमोद्गमं दर्शयन्ती त्वाम्प्रतिप्रकटयन्ती इव (स्थिता इति त्वं) पश्य अवलोकय। (किमनेनावलोकितेनेति चेदत्राह) हि यतः स्त्रीणां वनितानां विभ्रमः विलासः प्रियेषु इष्टेषु जनेषु विषये आद्यं प्रथमं प्रणयवचनं प्रेमालापः भवतीति शेषः।

विशेषः—अलि (सखी) स्थानीया वृन्ताली हस्तचालनेन त्वामाकारयन्ती इव, भृङ्गशब्देन त्वां तपसो वारयन्ती इव कुसुमोद्गमेन सात्त्विकभावजातरोमोद्गमं प्रकटयन्ती इव लक्ष्यते, तथा च त्वां प्रति स्वाभिप्रायं स्वविलासै रेव प्रकटयति। स्त्रीणामेष स्वभाव एवं यत् ताः प्रथमं वाचा न स्वाभिप्रायं प्रगटयन्ति किन्तु स्वकीयाङ्गविभ्रमैरेव, तदेव च तासां प्रथमं प्रेमवचनं भवति। मुद्रित पुस्तके 'प्रणयि वचनं' इति पाठो दृश्यते। सोऽपि प्रणयेन युक्तं वचनमितिरीत्या व्याख्यातुं शक्यत एव तथापि मेघदूते 'प्रणयवचन' मित्येव पाठस्य दृष्टतया तस्य प्रणयस्स प्रेम्णो वचनं कथनमितिरूपेण सारल्येन समुचितत्वेन च व्याख्येयतया तदेवात्रास्माभिः स्थापितम्। लेखक प्रमादादपि एवं भेदो भवितु मर्हतीति न कवे विरोधः सम्भावनीयः। अत्र च त्रिधोत्प्रेक्षालङ्कारः प्रयुक्तः ॥ ३० ॥

एवं बाह्यालापं विधाय साम्प्रतं स्वाभिप्रायं प्रकाशयति—

हीनं दीनं सुभग ! विरहात् ते धुताऽऽहारनीरं,
पश्येदं मे वपुरुपचितिं याति नान्यैः प्रयोगैः ।
जाने नाहं बहु निगदितुं त्वद्वियोगार्त्तिजातं,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥२१॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! ते विरहात् हीनं दीनं धुताऽऽहारनीरं इदं मे वपुः अन्यैः प्रयोगैः उपचितिं न याति (इति) पश्य; अहं बहु निगदितुम् न जाने, (इदं वपुः) त्वद्वियोगार्त्ति-जातं कार्श्यं येन विधिना त्यजति स त्वया एव उपपाद्यः, इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

'हे **सुभग** ! सौभाग्यशालिन् सुन्दर इति वा, ते तव **विरहात्** वियोगात् **हीनं** क्षीनं, **दीनं** परितप्तं, **धुता-ऽऽहारनीरं** धुते परित्यक्ते आहारनीरे भोजनजले येन तादृशम् **इदं** प्रत्यक्षदृश्यमानं **मे** मम (कोशायाः) **वपुः** शरीरम् **अन्यैः** त्वत्संयोगातिरिक्तैः **प्रयोगैः** उपायैः **उपचितिं** परिपुष्टिं **न याति** प्राप्नोति (इति) **पश्य** प्रत्यक्षमवलोकय । **अहं** त्वद्वियोगाविकला काचिदबला **बहु** विस्तृतं **निगदितुं**

कथयितुं न जाने अवगच्छामि, (केवलमेतावदेव प्रार्थयामि यत् इदं मे वपुः । त्वद्वियोर्त्तिजातं तव भवतः वियोगेन विरहेण या आर्त्तिः पीडा तया जातम् उत्पन्नं कार्श्यं दौर्बल्यम् येन पूर्वोक्त रीत्या स्पष्टेन विधिना उपायेन (तव संयोगरूपेण) त्यजति परिहरति स विधिः त्वया भवता एव उपपाद्यः सम्पादनीयः ।

विशेष—त्वयैव स्ववियोगद्वारा जनितमिदं मे वपुः-कार्श्यं त्वयैवापनेयमिति न्याय्यः पन्थाः । अत्र दशसु काम-दशासु पञ्चमी कामदशा प्रतिपादिता । तदुक्तं रतिरहस्ये—

"नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्ग स्ततोऽथ सङ्कल्पः ।
निद्राच्छेद स्तनुता विषयनिवृति स्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा, मृतिरित्येताः स्मरदशा दश ॥इति॥"

एवं च तनुता नाम्नी कामदशेयं कामोपभोगेनैव यास्यति, स त्वया मम सम्पादनीय इति कोशाभिप्रायः ॥ ३१ ॥

अथास्य पूर्वोक्तौदार्यादिप्रकटनपूर्वकं प्रवर्तनावाक्यमाह-

गेहं देहं श्रिय इव भवत् कारितं भर्त्तरेतद्,
भाग्यैर्लभ्यं नय सफलतां स्वोपभोगेन नाथ ? ।
स्वल्पीभूते स्वकृतसुकृते नाकिनां भूगतानां,
शेषैः पुण्यै हृ तमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥३

अन्वयः—

'हे भर्त्त ! श्रियः देहम् इव भवत्कारितम् एतद् गेहम्, भाग्यैः लभ्यम्, स्वकृतसुकृते स्वल्पीभूते भूगतानां नाकिनां शेषैः पुण्यैः हृतं कान्तिमत् एकं दिवः खण्डम् इव, हे नाथ ! स्वोपभोगेन सफलतां नय' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

'हे भर्त्तः ? विभर्ति पोषयति इति भर्ता तदामन्त्रणम्, धनादिनापरिपोषक ! श्रियः लक्ष्म्याः देहं शरीरम् इव (सुन्दरमिति भावः) भवत्कारितम् त्वयैव निर्मापितम् एतद् प्रत्यक्षम् गेहम् भवनं भाग्यैः सुकृतादृष्टैः लभ्यम् प्राप्यम् (किञ्च) स्वकृतसुकृते स्वानुष्ठितपुण्ये स्वल्पीभूते तनुतां प्राप्ते भूगतानां मर्त्यलोकमायातानां नाकिनां न अकं दुःखं यत्र स नाकः स्वर्गम्, स निवासोऽस्त्येषामिति नाकिनो देवाः तेषाम्, शेषैः भुक्तावशिष्टैः पुण्यैः सुकृतैः हृतं आनीतम् कान्ति मत् शोभायुक्तम् दिवः स्वर्गस्य एकम् खण्डम् अवयव इव (एतद् गेहं) हे नाथ ! स्वामिन् ! स्वोपभोगेन स्वस्य आत्मन उपभोगेन उपयोगेन सफलतां सार्थक्यं नय प्रापय ।

विशेष—त्वयैव परमौदार्येण मदर्थमेतद् गृहं निर्मापितम् । तच्च स्वर्गस्यैकं खण्डमिव विद्यत इतीदृशं गृहं भाग्यै-

रेव लब्धुं शक्यते-इति त्वत् सम्बन्धादेव अहमपि भाग्यवती जाता। तच्च गृहं तत्रोपभोगशून्यं चेद् विफलमेवेति स्वोपभोगेनैतत्साफल्यं विधेहीति भावः।

उपमालङ्कारोऽत्र स्वर्गस्य खण्डमिव गृहमिदमिति विवक्षणात्।

"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इति पुण्यक्षये स्वर्गिणो भूगता भवन्तीति प्रसिद्धम्। पुण्यस्य च स्वल्पावशेषतया तस्य स्वर्गसमसुखजनकत्वमावश्यकमिति स्वर्गीय सुखस्योपभोगाय स्वर्गस्यैक खण्डमेव तत्पुण्यशेषेणानीत मिदं गृहमित्याशयः॥ ३२॥

त्यक्त गृहस्य परित्यक्तमन्त्रिव्यापारस्य चास्य धनं दुर्लभम्, धनेन रहितस्य चास्य सेवनेन ममापि लाभो न स्यादिति धनापार्जनाय व्याजान्तरेण प्रेरयति—

अङ्गीकृत्य प्रिय! गुरुतरां मन्त्रिमुद्रां समुद्रां,
दानैरस्यां पुरि हर चिरं लोकदारिद्र्यमुद्राम्।
यत्रावन्त्यामिव सुरसरिद्धन्ति तापं च शीतः,
सिप्रा वातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥३३॥

अन्वयः—

'हे प्रिय! गुरुतरां समुद्रां मन्त्रिमुद्राम् अङ्गीकृत्य अस्यां पुरि दानैः लोकदारिद्र्यमुद्रां हर, यत्र अवन्त्यां शिप्रा

इव सुरसरित्, प्रार्थना चाटुकारः प्रियतम इव शीतः वातः च, तापं हन्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

'हे प्रिय! अभीष्ट! **गुरुतरां** बहुतरगौरवयुक्तां **समुद्रां** मुद्रा तत्तत्पदस्थजनप्रत्ययकारिणी अङ्किताक्षरा धात्वादिनिर्मिता 'मोहर' इति नाम्ना प्रसिद्धा तया सहितां **मन्त्रिमुद्रां** मन्त्रित्वचिन्हम् **अङ्गीकृत्य** स्वीकृत्य नन्दराज मन्त्रिपदमधिष्ठायेत्यर्थः, **अस्यां पुरि** पाटलिपुत्रनगर्यां **दानैः** अन्नवस्त्रहिरण्यादीनां वितरणैः **लोकदारिद्र्यमुद्रां** लोकानां जनानां दारिद्र्यस्य मुद्राम् आकारस्य विशेषं **हर** अपनयः; **यत्र** यस्यां पुरि (पाटलिपुत्रे) **शिप्रा** विशालानगरीपर्यन्तवाहिनी नदी सा **इव सुरसरित्** देवनदी गङ्गा, **प्रार्थना चाटुकारः** प्रार्थनायां सुरतयाच्ञायां चाटु प्रियवचनप्रयोगं करोतीति तादृशः **प्रियतमः** प्राणवल्लभ इव **शीतः** शीतलस्पर्शवान् **वातः** वायुः **च तापं** रत्यादिजातखेदं हरति नाशयति ।

विशेष—मन्त्रिपदस्वीकारेण बहुधनमर्जयन् दानैः पुण्यमपि सञ्चिन्वन् सुरसरिता तत्सम्बन्धिना रतिखेदापनोदकेन शीतेन वातेन च सुखितोऽस्यामेव पुरिमया सह रमस्व । यथा रतिश्रान्तामपि कान्तां प्रार्थना चाटुकारः प्रियतमः पुनः पुना रतौ प्रवर्तयति तथा शीतो वातोऽपीति प्रियतमसाम्यन्तस्य प्रदर्शितमित्युपमालङ्कारः ।

मेघदूते च 'शिप्रावात' इति समस्तं पदं पठ्यते स एव च बहुभिर्विशेषणै र्विशेषितः। अत्र च शिप्रासम्बन्धिनो वातस्य प्रकरणानुपयुक्ततया शिप्रापदं गङ्गोपमानत्वेनोपात्तं वात इति च स्वतन्त्रमेव पदं प्रार्थना चाटुकारादिपदैः विशेष्यते।

यद्यप्येवं व्याख्याने इव शब्दस्य दूरान्वयो भवति इति, यत्परः स प्रयुज्यते तस्यैवोपमानत्वं स प्रकटयतीति शब्दमर्यादा च भिद्यते तथापि समस्यापूर्त्तये तादृशस्य दोषस्याङ्गीकार एव शरणमिति विज्ञेयम् ॥ ३३ ॥

प्ररोचनार्थं पुनरपि पाटलिपुत्रनगरमेव वर्णयति—

पश्य स्वामिन् ! सुविपुलमिदं पाटलीपुत्रदङ्गं,
गङ्गोत्सङ्गे नृपतितिलकः कोणिकोऽस्थापयद् यत्।
यस्याऽग्रेऽहो ! विविधमणिभिः पूरितस्य क्षमायां,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन् ! गङ्गोत्सङ्गे सुविपुलम् इदं पाटलीपुत्रदङ्गं पश्य, यत् नृपतिपिलकः कोणिकः अस्थापयत्। विविधमणिभिः पूरितस्य यस्य अग्रे सलिलनिधयः तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! नाथ ! **गङ्गोत्सङ्गे** गङ्गायाः सुरनद्या उत्सङ्गे क्रोडे-समीपे **सुविपुलम्** अतिविस्तृतम् इदं प्रत्यक्षम् **पाटलीपुत्रद्रङ्ग** पाटलीपुत्रं नाम नगरम् ('नगरी पूः पुरी द्रङ्गः, पत्तनं पुटभेदनम्' इति अभिधान चिन्तामणौ तिर्यक्काण्डे४ ।९९१, **पश्य** अवलोकय, **यत्** नगरम् **नृपतितिलकः** नृपतिषु राजसु तिलक इव, राजश्रेष्ठ इत्यर्थः **कोणिकः** तन्नामा नृपतिः **अस्थापयत्** निर्मापयामास । **विविधमणिभिः** नानाप्रकाररत्नैः **पूरितस्य** भारितस्य यस्य पाटलिपुत्रनगरस्य **अग्रे** समक्षम्, **सलिलनिधयः** वारिधयः **तोयमात्रावशेषाः** तोयमात्रं केवलं जलमेव अवशेषः शिष्टं येषु तादृशाः, रत्नानि सर्वाणि पाटलिपुत्रे गतानि समुद्रेषु केवलं तोयमेवावशिष्यते इत्येवं रुपेणेत्यर्थः **संलक्ष्यन्ते** प्रतीयन्ते । बहुरत्नपूर्णमिदं नगरमिति भावः ।

विशेषः—परिशिष्टपर्वणि वर्णितायां कथायां षष्ठे सर्गे कोणिकस्य राज्ञः पुत्र उदायीनृपः पाटलिपुत्रमस्थापयदिति वर्णितमस्ति, इह च कोणिक स्तत् स्थापक उक्त इति किमत्र सत्यमिति न निश्चिनुमः ।

मेघदूते विशालाया उज्जयिन्या वा वर्णन प्रस्तावे स्थितस्य पद्यस्य चतुर्थचरणोऽत्रत्येन चतुर्थचरणेन समानार्थ एव ॥ ३४ ॥

पाटलिपुत्रनगरस्य पूर्ववृत्तान्तं पुरीवर्णनक्रमेण कथयति--

आद्यं नन्दं नृपतिमवधीदत्र वैरोचनः प्रा-
गत्राऽऽरामः सततफलदोऽत्राभवत् तस्य राज्ञः ।
अत्रोदायिप्रभुरपि हतः पापिना तेन दम्भा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥२५॥

अन्वयः—

'यत्र अभिज्ञः जनः आगन्तून् बन्धून् "अत्र प्राक् वैरोचनः आद्यं नन्दं नृपतिम् अवधीत्, अत्र तस्य राज्ञः सतत फलदः आरामः अभूत्, अत्र तेन पापिना दम्भात् उदायि प्रभुः अपि हतः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यत्र पाटलीपुत्रे **अभिज्ञः** पुरातनेतिहासवेत्ता **जनः** लोकः **आगन्तून्** आगच्छति इत्यागन्तुः आङ् पूर्वकाद् "गमेः कृसिकम्य [उणा० ७७३]" तुन् प्रत्यये सति सिध्यति, अतिथिपर्याय श्चायमित्यतिथीनित्यर्थः, **बन्धून्** सम्बन्धिनः ' **अत्र** नगरे प्रदेशे वा **प्राक्** पूर्वं **वैरोचनः** विरोचनस्य पुत्रः **आद्यं** प्रथमं **नन्दं** एतन्नामक **नृपतिं** राजानम् **अवधीत्** जघान, **अत्र** पदेशविशेषे **तस्य** नन्दस्य **राज्ञः** नृपस्य **सततफलदः** सततं सर्वेषु कालेषु फलानि

ददाति इति तादृशः आरामः वृक्षवाटिका अभूत् आसीत्, अत्र प्रदेश विशेषे तेन प्रसिद्धेन उदायिनृपोत्सादितराज-पुत्रेण पापिना दुष्कृताचारिणा दम्भात् मुनिवेषधारण-कपटात् उदायिप्रभुः प्रसिद्धः पाटलिपुत्रसंस्थापको राजावि शेषः हृतः मारितः इति उक्तप्रकारवचनैः रमयति रञ्जयति।

विशेषः—इदं नगरं वहुतर राज परम्परा परिभुक्तमति-प्राचीनमिति ज्ञापनाय अत्र ये आगन्तव आगच्छन्ति तान् तदीया अत्रत्या वन्धवः पूर्ववृत्तान्तं श्रावयति। तस्य चायं प्रकारः।

उदायिनृपवृत्तान्तश्च परिशिष्टपर्वणि एवं वर्णितो यत्—"स महाप्रतापी राजा अभवत्। कदाचित् कश्चिदन्यो राजा तेन जितः भयादेव विपन्नः। तत् पुत्रश्च पितृमरणदुःखितो-ऽपि हृदि वैरं धृत्वा उदायिनृपस्य मारणोपायं चिन्तयन्, 'स राजा सूरीश्वराणामादरं करोति, ते च अवारिता स्तन्निकटं गच्छन्तीति दृष्ट्वा, राजगुरोः सूरीश्वरस्य शिष्यत्वमाप। क्रमेण च तेन सार्धं राजकुलं गच्छन् विश्वासभाजनं जातः। एकदा रात्रौ सूरिनिकट एव सुप्तस्य राज्ञो मस्तकं छुरिकया छित्वा पलायित इति।

अत्र पद्ये एकः अत्र शब्दोऽधिकोऽस्ति । किञ्च प्रत्यक्ष स्थिताया नगर्याः चतुर्थचरणस्थेन यत्र शब्देन परामर्शोऽपि न युक्तः प्रतिभाति । समस्यापूर्तिकारणादेव तस्य स्थापनमगत्या कृतमिति विभाति । मेघदूते पञ्चत्रिंशपद्ये उज्जयिन्या पूर्व--विशेषवर्णनसमये समागत श्चतुर्थचरणोऽयमत्राऽपि पाटलिपुत्रपूर्वविशेषवर्णने योजितः इति युक्तम् ॥ ३५ ॥

अथास्य प्ररोचनार्थं शरीरपरिपुष्ट्यै प्रेरयति—

खिन्नोऽसि त्वं चिरविचरणाद् दृश्यतेऽनीदृशस्ते,
देहस्तन्नो निजपरिजनेनाऽमुना जल्पसि त्वम् ।
हर्म्येष्वेषु प्रिय ! निवसनात् सज्जयास्मिंस्तनुं स्वां,
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३६॥

अन्वयः—

'त्वं चिरविचरणात् खिन्नः असि, ते देहः अनीदृशः दृश्यते, तत् त्वम् अमुना निजपरिजनेन नो जल्पसि, हे प्रिय ! ललितवनितापादरागाङ्कितेषु एषु हर्म्येषु निवसनात् खेदं नीत्वा अस्मिन् स्वां तनुं सज्जय' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

त्वं स्थूलभद्रः चिरविचरणात् बहुकालविहारात् खिन्नः क्षीणः असि, ते तव देहः शरीरम् अनीदृशः पूर्व

सादृश्यरहितः दृश्यते अवलोक्यते, तत् तस्मात् त्वम् अमुना साक्षात् स्थितेन निजपरिजनेन अस्मत्प्रभृति सेवकवर्गेण सह नो नैव जल्पसि आलपसि। हे प्रिय! स्नेहास्पद! ललितवनितापादरङ्गाङ्कितेषु ललितानां सुन्दरीणां वनितानां स्त्रीणां पादरागैः चरणालक्तकरसैः अङ्कितेषु चिह्नितेषु एषु पुरतः स्थितेषु हर्म्येषु प्रासादेषु निवसनात् स्थिति करणात् खेद चिरविचरणपरिश्रमं नीत्वा दूरीकृत्य अस्मिन् समये स्वां निजां तनुं शरीरं सज्जय भोगयोग्यतामापादय।

विशेषः—चिरविहारसमये प्रतिकूलाहारविहारपादसंचार-खेदादिभिस्ते शरीरं क्षीणं विसदृशमिव दृश्यतेऽत एव च त्वयाऽस्माकं प्रतिवचनमपि न दीयते, अतः सुखकरेऽत्र स्थाने स्थित्वा पूर्वखेदमतिवाह्यशरीरं पोषय येन भोग-योग्यता जायेतेति भावः।

मेघदूतस्य षट्त्रिंशे पद्ये "पश्यँल्लक्ष्मीं ललितवनितापाद-रागाङ्कितेषु" इत्येवं पाठोऽस्ति, 'नीत्वा खेद' मिति च तत्रत्यैः पूर्वचरणैरपि न युज्यते, यत स्तृतीयचरणस्तस्य ईदृशः—"हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथाः" इति दृश्यते। तत्र हि अध्वखेदापनयनायैव प्रेरणा इह च खेदा-पनयनपूर्वकं शरीर संवर्धनाय, इति समस्यापूर्तौ त्रुटिरिव

लक्ष्यते; तथापि प्रकृतार्थसङ्गतये एतावत् परिवर्तनं कवेरपरिहार्यमिति सन्तोष्टव्यम् । 'चिरविचरणात्' 'दृश्यतेऽनीदृशः' 'ललितवनिता' इत्येष्वनुप्रासालङ्कारः ॥ ३६ ॥

स्थाने खेदापनयनयोग्यता प्रदर्श्यते—

दृङ्गोत्सङ्गे सगरतनयाऽऽनीतवाहां वहन्तीं,
गङ्गामेतां सुभग ! मृगयालोलकल्लोलमालाम् ।
घर्मस्वेदं हरति कुरुते या रतिं श्राग् नराणां,
तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३७॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! सगरतनयाऽऽनीतवाहाम् आलोलकल्लोलमालाम् वहन्तीम् एतां गङ्गां मृगय । या तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः मरुद्भिः नराणां घर्मस्वेदं हरति, श्राक् रतिं कुरुते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सुभग ! सुरूप ! सौभाग्यशालिन्, सगरतनयाऽऽनीतवाहां सगरचक्रवर्तिन स्तनयैः पुत्रैः आनीतः हिमालयात् सागरं प्रति नीतः वाहः वहनं वाहः, प्रवाहः यस्याः ताम्, आलोलकल्लोलमालाम् आ समन्तात् लोला चञ्चला

कल्लोलानां तरङ्गाणां माला पङ्क्तिः यस्याःताम्, वहन्तीम् प्रसरन्तीम् एतां प्रत्यक्षदृश्यमानां गङ्गाम् भागीरथीं मगय अवलोकय। या गङ्गा तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः तोयक्रीडायां जलविहारे निरतानां लग्नानां युवतीनां तरुणीनां स्नानेन अवगाहनेन तिक्तैः सुरभितैः मरुद्भिः वायुभिः नराणाम् मनुष्याणाम् घर्मस्वेद ऊष्मजातजलं हरति अपनयति, आक् झटिति रतिम् स्त्रीपुंसयोरनुरागं च कुरुते जनयति। 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभेऽपि प्रकीर्तिताः' इति हलायुधकोशानुसारमिह तिक्तशब्दः सुरभितार्थतया व्याख्यातः। स्नानयनेनेति स्नानमिति करणेनेन स्नानपदं स्नानीय चन्दनादिचूर्णपरमपि 'स्नानीयेऽभिषवे स्नानम्' इति यादवकोशात्। तथा च स्त्रीणां स्नानीयद्रव्येण तत्रत्य वातस्य सौरभयुक्तत्वं युक्तमेव।

विशेषः—इदं स्थानमीदृशं यत्र रतिक्रमादिजन्यं घर्मजलमपनयन् गङ्गा सम्पर्कशीतः, तत्र जले विहरन्तीनां वनितानां स्नानीयद्रव्येण सुरभि श्च वायुः रतिं जनयतीति कोशाभिप्रायः।

मेघदूते उज्जयिन्यां महाकाल मन्दिरोद्यानस्य गन्धवत्या नद्या ईदृशवायुना कम्पितत्वमनेन चतुर्थपादेनोक्तमिह चान्यतात्पर्येण तत्संङ्गमयितम् ॥ ३७ ॥

पुनरप्यत्रवासाय प्रेरयति—

वासं कुर्वन्नवनिविदिते नित्यरङ्गेऽत्र द्रङ्गे,
गाङ्गैर्नीरैरनिशममृतस्वादमावेत्स्यसि त्वम् ।
गङ्गाघोषैः श्रुतिसुखकरैरन्वहं चाब्दजाना-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३८॥

अन्वयः—

अवनिविदिते नित्यरङ्गे अत्र द्रङ्गे वासं कुर्वन् त्वम् गाङ्गैः नीरैः अनिशम् अमृतस्वादम् आवेत्स्यसि, श्रुतिसुखकरैः गङ्गाघोषैः अन्वहम् अब्दजानाम् आमन्द्राणां गर्जिताम् अविकलं फलं च लप्स्यसे' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

अवनिविदिते पृथिव्यां ख्याते **नित्यरङ्गे** नित्यं प्रतिदिनम् रङ्गः नाट्योत्सवः यत्र तादृशे [यद्यपि 'नाट्यस्थानं तु रङ्गः स्यात' [अभिधान० २, १९६] इत्युक्ततया रङ्ग इत्यस्य नाट्यशाला इत्यर्थः करणीयः तथापि अत्र नित्य विशेषणेन रङ्ग पदस्य तत्रत्य क्रियायामेव प्रयोग इति विज्ञायैवं व्याख्यातम्] अत्र प्रकृते द्रङ्गे नगरे पाटलिपुत्रे, **वासं** स्थितिं **कुर्वन्** विदधत् त्वं भवान् **गाङ्गैः** गङ्गासम्बन्धिभिः **नीरैः** जलैः **अनिशम्** सततम्

अमृतस्वादम् अमृतस्य पीयूषस्य स्वादम् रसम् आवेत्स्यसि ज्ञास्यसि, श्रुतिसुखकरैः कर्णानन्दावहैः गङ्गाघोषैः भागीरथीप्रवाहशब्दैः अन्वहम् अह्नि-अह्नि इति अन्वहम् वीप्सायामव्ययीभावः प्रतिदिनम् अब्दजानाम् अपोददति इति अब्दा मेघाः तेभ्यो जातानाम्, आमन्द्राणाम् ईषद् गम्भीराणाम् गर्जितानाम् गर्जनशब्दानाम्, अविकलं सम्पूर्णम् फलम् उपयोगं लप्स्यसे प्राप्स्यसि। यादृश आह्लादो मेघगर्जने भवति तादृशो गङ्गाप्रवाहघोषैरेव तव स्यादिति भावः।

विशेषः—घनगर्जितश्रवणेन कामिनां कामोद्रेको भवति, घनगर्जितं च केवलं वर्षास्वेव सम्भवति, इह च गङ्गासान्निध्यात् तदीय प्रवाहघोषाः घनगर्जितानीव भासन्तस्तव कामोद्रेकं वर्धयिष्यन्तीति तात्पर्यम्।

मेघदूते यक्षेण मेघं प्रति एवमुपदिश्यते यत् सायं समये शिवपूजाकाले पटहशब्दवत् गर्जंस्त्वम् स्वकीय गम्भीर गर्जितानां सर्वं फलं शिवप्रसादेन प्राप्स्यसीति तच्चेहान्यथा योजितमिति कवेश्चातुरी दृश्यते ॥ ३८ ॥

न केवलमत्र स्थितिरेव कार्या स्वकीय व्यापारोऽपि करणीय एवेत्याह—

नो मुञ्चन्ति प्रिय ! निजकुलाचारभारं महान्तो,
व्यापारं तत् कुरु गुरुममुं पूर्वजाचाररूपम् !
स्नेहाद्यस्मिन् सति हि समुदः पौरनार्योऽतिवर्या-
नामोच्यन्ते त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥३१॥

अन्वयः—

'हे प्रिय ! महान्तः निजकुलाचारभारं नो मुञ्चन्ति तत् पूर्वजाचाररूपम् अमुं गुरुं व्यापारं कुरु, हि यस्मिन् सति समुदः पौरनार्यः त्वयि स्नेहात् अतिवर्यान् मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् आमोच्यन्ते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे प्रिय ! **महान्तः** मह्यन्ते लोकैः पूज्यन्ते इति महान्तः ("द्रुहि वृ ह० [उणा० ८८४]" इति कतृ प्रत्ययेन महत् शब्दो व्युत्पादितः) **निजकुलाचारभारं** निजकुलस्य स्ववंशस्य आचारः व्यापारः स एव भारः वहनीयः तं **नो** नैव **मुञ्चन्ति** परित्यजन्ति **तत्** तस्माद्धेतोः **पूर्वजाचाररूपम्** पूर्वजस्य पित्रादेः **आचाररूपम्** कर्तव्यरूपं **अमुं** पूर्वनिर्दिष्टं मन्त्रिपदस्वीकाररूपं **व्यापारं** कार्यं **कुरु** विधेहि । **हि** यतः **यस्मिन्** व्यापारे **सति** विद्यमाने **समुदः** सानन्दाः **पौरनार्यः** नागरवनिताः **त्वयि** भवति **स्नेहात्** प्रेम्णः कारणात् **अतिवर्यान्** अत्यादरपूर्णान् **मधुकरश्रेणिदीर्घान्**

मधुकरश्रेणिवत् (अतिकृष्णवर्णत्वादायतत्वाच्च) भ्रमरपङ्क्तिवत् दीर्घान् आयतान् कटाक्षान् अपाङ्गान् आमोक्ष्यन्ते पातयिष्यन्ति ।

विशेष—निर्व्यापारस्य जीवनमेवासम्भवि, अतश्च कोऽपि व्यापारोऽवश्यं करणीयः, एतश्च कुलक्रमागत एव व्यापारो भाररूपोऽपि अवश्यं स्वीकार योग्यः तदनुष्ठान एव परम्परा प्राप्तं महत्त्वं तिष्ठति । स च तव कुले मन्त्रिपदधारणमेव । सति च मन्त्रिपदेऽधिष्ठिते त्वं नारीणामपि नागरीणां बहुमतो भविष्यसि, न केवलं ममैवेति कोशाया अभिप्रायः ॥ ३९॥

अथास्य सुखमाशास्ते—

पायं पायं शुचि सुललितं बन्धुवाक्यं पयो वा,
स्वादं स्वादं सरसमधुराहारमेयाः प्रमोदम् ।
स्वामिन् ! नित्यं शिव इव मया सस्पृहं वीक्ष्यमाणः,
शान्तोद्वेगः स्तिमितनयनं दृष्टभक्ति र्भवान्या ॥४०॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन् ! शुचि सुललितं बन्धुवाक्यं वा पयः पायं-पायम्, सरसमधुराहारं स्वादं-स्वादं भवान्या शिवः इव मया सस्पृहं स्तिमितनयनं नित्यं वीक्ष्यमाणः दृष्ट भक्तिः शान्तोद्वेगः प्रमोदम् एयाः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! शुचि पवित्रमुज्ज्वलं वा सुललितम् सुन्दरं बन्धुवाक्यं सम्बन्धिजनवचनं वा अथवा पयः दुग्धं पायं-पायं श्रुत्वा-श्रुत्वा, पीत्वा-पीत्वा वा सरसमधुराहारम् सरसं सस्वादं मधुरं मिष्टं च आहारभोज्यवस्तु स्वादं-स्वादं रसयित्वा-रसयित्वा, भवान्या पार्वत्या शिवः शङ्कर इव यथा, मया कोशया सस्पृहं साभिलाषं स्तिमितनयनं स्तिमिते निश्चले नयने नेत्रे यत्र तादृशं च यथा स्यात् तथा नित्यं प्रतिदिनं वीक्ष्यमाणं अवलोक्यमानः, दृष्टभक्तिः दृष्टा प्रत्यक्षी कृता भक्तिः मम अनुरागो येन तथाभूतः शान्तोद्वेगः शान्तः अपगत उद्वेगः वैराग्यं यस्य तथाभूतः सन् प्रमोदम् सुखम् एयाः प्राप्नुयाः।

विशेषः—मन्त्रित्वे स्वीकृते सति बन्धवोऽपि प्रसन्नाः त्वां मधुरमालपिष्यन्ति भोज्यं च मनोनुकूलं मिलिष्यतीति सर्वन्तदुपयुञ्जन्, मया च नित्यनूतनभावैः स्पृहया भक्त्या च परिचरित स्त्वं शान्तवैराग्यः सुखित श्च भवेरित्या शास्यते। मेघदूते च 'शान्तोद्वेग स्तिमित नयनं दृष्टभक्ति र्भवान्या' इत्येवं शान्तोद्वेगपदं स्तिमित नयनत्वस्य कारणत्वेन समस्तत्वेन च निर्दिश्यते, इह च स्वाभिप्रायानुरूपेण पृथक्कृत विशेषणत्वेन गृहीतमिति कवे श्चातुरी ॥ ४० ॥

त्वया दीक्षा त्याज्येत्याह—

कार्या शश्वद् भृतिरिह मया वः पुरेत्युक्तिपूर्वं,
पाणौ प्रादात् प्रिय ! किल भवान् यत् पयो मत् सखीनाम् ।
गृह्णन् दीक्षां निजपरिजनं त्वं विमुञ्चन् क्षणात् तत्,
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥४१॥

व्याख्या:—

'हे प्रिय ! पुरा 'इह मया वः भृतिः शश्वत् कार्या' इति उक्तिपूर्वं भवान् मत्सखीनां पाणौ यत् पयः प्रादात्, दीक्षां गृह्णन्, निजपरिजनम् विमुञ्चन् त्वम् तत् क्षणात् तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः मा स्म भूः, ताः विक्लवाः' इत्यन्वय ।

अन्वय:—

हे प्रिय ! पुरा पूर्वस्मिन् समये 'इह लोकेऽस्मिन् मया स्थूलभद्रेण वः भवतीनां भृतिः परिपुष्टिः शश्वत् सर्वदा कार्या सम्पादनीया' इति एवम् उक्तिपूर्वं प्रथममुक्त्वा भवान् त्वं मत्सखीनाम् मम सहचरीणाम् पाणौ करे यत् पयः पानीयम् प्रादात् वितीर्णवानभूत्, दीक्षाम् चारित्रं गृह्णन् स्वीकुर्वन्, निजपरिजनम् स्योपजीविवर्गम् विमुञ्चन् परित्यजन् (च) त्वम् भवन्तं तत् तस्मात्,

क्षणात् स्वल्पकालानन्तरमेव तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः तोयस्य पूर्वं पाणौ प्रदत्तस्य जलस्य उत्सर्गाय परावर्तनाय परित्यागाय वा यत् स्तनितं शब्दितं तदर्थं मुखरः वाचालः **मा स्म भूः** न भूयाः, (यतः) **ताः** मत्सहचर्यः **विक्लवाः** भीरवः सन्तिः त्वया तज्जलस्य आजीवनं भृतये सकल्परूपेण दत्तस्य परावर्तनाय कथिते सति ताः प्राणांस्त्यक्ष्यन्तीति भावः ।

विशेषः—प्रतिज्ञा पालनमेव महतां भूषणम्, पूर्वं तासां भरणाय प्रतिज्ञां विधाय पुनस्तस्याः परित्यागो तव मुखरत्वं तासां प्राणसंशयं च कुर्यात् । मेघदूते रात्रौ प्रियगृहं प्रत्यभिसारिणीनां वनितानां विद्युत्प्रकाशेन मार्गप्रदर्शनाय मेघः प्रेरितः, तस्मिन् काले जलवर्षणकालिकं गर्जितं न कुर्याः यतः ता भीरवो भवन्तीति मेघः प्रार्थ्यते यक्षेणानेन चतुर्थचरणेन सचेहान्यथैव योजित इत्यवगन्तव्यम् ।। ४१ ।।

मन्त्रिव्यापारस्यानेकछलछिद्रान्वितत्वेन तदस्वीकारे वाणिज्यमेव विधेहीत्याह—

व्यापारस्ते यदि न हृदये संमतो ज्ञाततत्त्वे,
वाणिज्येनार्जय धनचयं त्यागभोगक्षमं तत् ।

अङ्के क्षिप्तानव तव पुराऽनेन पित्रा स्वबन्धून्,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥१२॥

अन्वयः—

'यदि ज्ञाततत्त्वे ते हृदये व्यापारः न संमतः, तत् वाणिज्येन त्यागभोगक्षमं धनचयं अर्जय; अनेन पुरा पित्रा तव अङ्के क्षिप्तान् स्वबन्धून् अव सुहृदाम् अभ्युपेतार्थकृत्याः न खलु मन्दायन्ते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

चेत् **ज्ञाततत्त्वे** ज्ञातं परिचितं तत्त्वं सांसारिक-मिथ्यात्वरहस्यं येन तादृशो **ते** तव **हृदये** अन्तःकरणे **व्यापारः** मन्त्रित्वेन व्यापृतिः **न संमतः** इष्टः, **तत्** तदा **वाणिज्येन** क्रयविक्रयकरणेन **त्यागभोगक्षमं** त्यागाय दानाय भोगाय स्व सुखाय च क्षमं योग्यं **धनचयं** सम्पत्तिजातम् **अर्जय** स्वाधीनी कुरु **अनेन** धनचयेन, **पुरा** पूर्वसमये **पित्रा** जनकेन **तव** भवतः **अङ्के** आश्रये **क्षिप्तान्** समर्पितान् **स्वबन्धून्** निजज्ञातीन् **अव** रक्षय । अर्थान्तर न्यासालङ्कारेणैतत् समर्थयति-**सुहृदाम्** शुद्ध-हृदयानां जनानाम्—मित्राणां वा कृते **अभ्युपेतार्थकृत्या** अभ्युपेता अङ्गीकृता अर्थस्य प्रयोजनस्य कृत्या क्रिया यैः तादृशाः जनाः **न खलु** नैव **मन्दायन्ते** विलम्बन्ते विर-मन्ति वा ।

विशेषः—मन्त्रिपदे राजनीत्यनुसारं व्यापारस्य करणीयत्वेन तत्र चेत् तव हृदयं न स्थातुं मन्यते कर्हि वाणिज्यमेव विधेहि यत्र स्वकीयं स्वातन्त्र्यं तिष्ठति। तेन च वाणिज्येन बहुधनान्यर्जयित्वा पितृसमर्पितवान् स्वबान्धवान् पालय। तेषामपालने तव महान् दोषः स्यादित्याशयः ॥ ४२ ॥

अथ नन्दराजानुरोधनापि त्वया मन्त्रिपदं स्वीकार्यमित्याह—

पूर्वैः पूर्वं मम खलु समे मानिता ह्यस्य पूर्वं,
तन्मान्योऽसौ सचिवतनयो मे जिघृक्षुस्तपस्याम्।
मत्वा नन्दो नृप इति चिरं त्वाऽनुनेतुं प्रमोदात्,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥

अन्वयः—

'हि, पूर्वम् मम पूर्वैः अस्य समे पूर्वे मानिताः, तत् असौ सचिवतनयः तपस्यां जिघृक्षुः मे मान्यः इति मत्वा नन्दः नृपः प्रमोदात् त्वा अनुनेतुं प्रत्यावृत्तः, त्वयि कररुधि अनल्पाभ्यसूयः स्याद्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हि यतः पूर्वम् पूर्वस्मिन् समये मम नन्दस्य पूर्वैः पूर्व पुरुषैः अस्य स्थूलभद्रस्य समे सर्वे पूर्वे पूर्वपुरुषाः पित्रादयः

मानिताः पूजिताः तत् तस्मात् असौ सम्प्रति विप्रकृष्टः सचिवतनयः मन्त्रिपुत्रः स्थूलभद्रः तपस्याम् तपः जिघृक्षुः स्वीकर्तुमिच्छुः मान्यः अनुनेयः इति पूर्वोक्तं मत्वा विचार्य नन्दः एतन्नामा नृपः पाटलिपुत्राधीश्वरः प्रमोदात् त्वामिहागतं श्रुत्वा हर्षात् त्वा त्वाम् अनुनेतुं अनुकूलयितुं प्रत्यावृत्तः पुनरपि प्रवृत्तः; त्वयि भवति कररुधि अनुनयार्थं प्रवर्तितं करं हस्तं रुणद्धि वारयति इति तादृशे जाते सति अनल्पाभ्यसूयः अनल्पा समधिका अभ्यसूया ईर्ष्या यस्य तादृशः स्यात् भवेत् ।

विशेष—पूर्वं नन्दनृपवचनमविगणय्य त्वं दीक्षायै यातः पुन स्त्वामिहागतं विज्ञाय पूर्वपुरुषमान्यमन्त्रिपुत्रं त्वामनुनेतुं स पुनरपि तवानुनयने प्रवृत्तोऽस्ति, तस्या स्वीकारे स परं कुप्येदिति राजकोपवारणायापि त्वया दीक्षां विहाय मन्त्रिपदं स्वीकृत्य गृहे स्थेयमिति भावः। मेघदूते च 'सूर्यः कमलिनीनां मुखात् प्रालेयाश्रुं हर्तुं प्रातः प्रत्यावर्तते इति तस्य त्वया किरणानां रोधनं न कार्यं तथा सति स कुप्येदित्याशयेन प्रयुक्तोऽयं, चतुर्थचरणोऽन्यथा योजितः समस्यया ॥ ४३ ॥

न केवलं वयमेवैवं कथयामः मान्या गङ्गापि ते दीक्षां वारयतीत्याह—

दीक्षाम्मेषा तव सुरनदी वारयत्यूर्मिरावैः,
पश्य स्वामिन् ! बहुपरिचिता प्रेयसीवेयमुच्चैः ।
अस्याः शस्याशयरयकृतान्यर्हसि त्वं न विद्वन् !,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥

अन्वय—

'हे स्वामिन् ! एषा सुरनदी बहुपरिचिता इयं प्रेयसी इव तव दीक्षाम् उच्चैः ऊर्मिरावैः वारयति (इति) पश्य, हे शस्याशय ! विद्वन् ! त्वम् अस्याः रयकृतानि चटुलशफरोद्वर्तन प्रेक्षितानि मोघीकर्तुं न अर्हसि' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! एषा प्रत्यक्षदृश्यमाना सुरनदी गङ्गा बहुपरिचिता अतिशयानुभूता इयं मद्रूपा प्रेयसी प्रियतमा इव तव भवतः दीक्षाम् प्रव्रज्यां उच्चैः दीर्घैः ऊर्मिरावैः प्रवाहकोलाहलैः वारयति प्रतिषेधति (इति) पश्य अवलोकय । हे शस्याशय ! शस्यः प्रशस्यः आशयोऽभिप्रायो यस्य तथाभूत ! विद्वन् ! कर्तव्याकर्तव्यविवेकपटो ! त्वम् भवान् अस्याः गङ्गायाः रयकृतानि वेगसमुद्भूतानि, चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि चटुलानां चञ्चलानां शफराणां मत्स्यविशेषाणाम् उद्वर्तनानि उल्लुण्ठनानि एव प्रेक्षितानि

अवलोकनानि मोघीकर्तुं विफलीकर्तुं न अर्हसि न युज्यसे ।

विशेषः—यथा बहुपरिचिताहं तव प्रेयसी त्वां दीक्षातः वारयामि तथा इयं गङ्गाऽपि प्रवाहसमुद्भूतशब्दैः त्वां वारयतीवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

यथाऽहं चञ्चलनेत्रैः त्वां पश्यामि तथा इयमपि जलवेगवशान्मत्स्योद्वर्तनरूपेण चञ्चलेन चक्षुषा त्वां प्रेक्षत इवेति तदपि न विफलीकरणीयम् ।
शफरोद्वर्तनान्येव प्रेक्षितानीत्यत्र च रूपकालङ्कारः । अत्र 'शस्याशयस्य०' इत्येवं समस्तः पाठो मुद्रित पुस्तके दृश्यते, परन्तु अर्थ सामञ्जस्यानुरोधेन 'शस्याशय' इति आमन्त्रणपदत्वेन पृथक्कृत्येह व्याख्यातं तदेव च युक्तं प्रतिभाति । अन्यथा शस्याशयेन प्रशस्याभिप्रायेण यो रयो वेग स्तेन कृतानि विहितानीति क्लिष्टं व्याख्यानमाश्रयणीयं स्यादिति विचार्यम् ॥ ४४ ॥

पूर्वमपि दीक्षां विहाय भोगानुभवः कृतो दृश्यत इत्युदाहरति—

कान्तावाचा चिरकृतमहो ! प्रोज्झ्य चारित्ररत्नं,
भेजे भोगान् सुभग ! विततानार्द्रपूर्वः कुमारः ।

सोऽस्थाद् गेहे प्रिय ! जिनमितान् वत्सरान् स्नेहतो वा,
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ?॥४५॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! आर्द्रपूर्वः कुमारः कान्ता वाचा चिरकृतं चारित्ररत्नं प्रोज्झ्य, विततान भोगान् भेजे अहो !, हे प्रिय ! सः जिनमितान् वत्सरान् स्नेहतः गेहे अस्थात्, वा, ज्ञातास्वादः कः विपुलजघनां विहातुं समर्थः ?' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **सुभग** ! सुन्दर ! **आर्द्रपूर्वः** आर्द्रशब्दः पूर्वं यस्य सः **कुमारः** आर्द्रकुमार नामा प्रसिद्धो राजपुत्रः **कान्ता-वाचा** कान्तायाः प्रियाया वाचा कथनेन **चिरकृतम्** बहुकालानुष्ठितं **चारित्ररत्नम्** चारित्ररूप मणिं **प्रोज्झ्य** परित्यज्य **विततान्** बहुविस्तृतान् **भोगान्** स्रक्चन्दन-वनितादिविषयान् **भेजे** उपयुयुजे इति **अहो** ! आश्चर्यम् । हे **प्रिय** ! सः आर्द्रकुमारः **जिनमितान्** जिनसङ्ख्यकान् चतुर्विंशतिं **वत्सरान्** वर्षाणि यावत् **स्नेहतः** कान्तादीनां प्रेमतः **गेहे** गृहस्थाश्रमे **अस्थात्** स्थितः, (अर्थान्तरा-लङ्कारोपन्यासेनैतत् समर्थयति) **वा** अथवा **ज्ञातास्वादः** अनुभूतरसः **कः** जनः **विपुलजघनां** विपुलं विस्तृतं जघनं

कटिपश्चाद्भागो यस्याः तादृशीं (नारीं) विहातुं परित्यक्तुं समर्थः क्षमः स्यात् ।

विशेषः—पूर्वमार्द्रकुमारेण प्रव्रज्यामारूढेनापि प्रियतमायाः कथनेन चिरार्जितमपि चारित्ररत्नं विहाय, चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तं गृहे स्थित्वा भोगा भुक्ताः, परिणते वयसि पुनः प्रबुद्धः दीक्षां गृहीत्वा सम्यग् आराध्य प्रान्ते मोक्षसुखं लेभे । किं च येन पूर्वं स्त्रीसङ्गादिजन्यरसानुभवः कृतः को जनः विपुलजघनां स्त्रियं परिहर्तुं समर्थः स्यात् । अपि तु कोऽपि नेति—आर्द्रकुमारोऽपि न प्रियां तत्याजेति यत् तदुचितमेवेति भावः । जिनमितान् वत्सरान् इत्यत्र, "कालाध्वनो व्याप्तौ (२-२-४२)" इति द्वितीया । मेघदूते च चतुर्थ चरणे 'विपुलजघनाम्' इत्यस्य स्थाने विवृतजघनाम् इति पाठो दृश्यते, किन्तु अश्लीलतापरिहारार्थं 'विवृत' पदं विहाय 'विपुल' पदमिह स्थापितमिति प्रतिभाति ॥४५॥

सम्प्रति स्वाभिप्रायं निगमयति—

सूदर्कं तत्प्रिय ! मम वचो मानयित्वा गृहे स्वे,
तारुण्यं त्वं नय विनयतः प्रार्थ्यमानः प्रियाभिः ।
वर्षाकाले तव विहरतः शर्मकर्त्ता वनान्तः,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४६॥

अन्वयः—

'हे प्रिय ! तत् सूदर्कं मम वचः मानयित्वा विनयतः प्रियाभिः प्रार्थ्यमानः त्वम् स्वे गेहे तारुण्यं नय । वर्षाकाले वनान्तः विहरतः तव काननोदुम्बराणां परिणमयिता शीतो वायुः शर्म कर्त्ता' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे प्रिय ! **तत्** तस्मात् पूर्वोक्तकारणसमुदयात् **सूदर्कं** शोभनः उदर्कः उत्तरकालफलं यत्र (आयति स्तूत्तरः कालः, उदर्क स्तद्भवं फलम्' इति अभिधान० २:७६) तादृशं **मम** कोशाया **वचः** वचनं **मानयित्वा** स्वीकृत्य, **विनयतः** प्रश्रयेण **प्रियाभिः** कान्ताभिः **प्रार्थ्यमानः** याच्यमानः भोगार्थं प्रवर्त्यमानः **त्वं** स्थूलभद्रः **स्वे** निजे **गेहे** गृहे **तारुण्यं** यौवनावस्थां **नय** अतिवाहय । **वर्षाकाले** प्रावृषि **वनान्तः** काननमध्ये **विहरतः** स्वैरं विहारं कुर्वतः **तव** भवतः **काननोदुम्बराणाम्** वनान्तःस्थोदुम्बरफलानां **परिणमयिता** परिपाचयिता **शीतः** शीतलः **वायु** वातः **शर्म** सुखं **कर्त्ता** विधाता ।

विशेषः—तारुण्यं भोगकालः, स च भोगेनैव नेयः समागते वृद्धत्वे धर्माचरण विधेयमित्येव क्रमिको मार्गः, इति मया यत् कथ्यते तत् तवोत्तरकालेऽपि शुभफलप्राप्तय

एव । साम्प्रतं मम वचनेन गृहे स्थित्वा प्रियाभिः सह वनमध्ये विहरन् यौवनसुखमेवानुभूयताम् । पश्चात्, चारित्रमपि आचरिष्यसि चेत्, तदपि सुलभमेव भविष्यति । तारुण्ये तु भोगैराकृष्टश्चेत्पतनाशङ्काऽपि तिष्ठतीति भावः ॥४६॥

पुनर्मन्त्रिपदस्वीकारायैव प्रेरयति—

अङ्गीकृत्य प्रियतम ! महामात्यमुद्रां सुभद्रां,
सान्द्रानन्दं कुरु निजपतिं नन्दनामानमेनम् ।
भूयाद् भूयस्तव जनकवत् शत्रुतृणयावलीना-
मत्यादित्यं हुतवह ! मुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४७॥

अन्वयः—

हे प्रियतम ! सुभद्रां महामात्यमुद्राम् अङ्गीकृत्य नन्दनामानम् एनम् निजपतिम् सान्द्रानन्दं कुरु हे शत्रुतृण्यावलीनां हुतवह ! तव मुखे जनकवत् अत्यादित्यं संभृतम् तत् तेजः भूयः भूयात्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे प्रियतम ! प्रियेषु मध्येऽत्यन्तं प्रिय ! सुभद्रां सुमङ्गलमयीम् महामात्यमुद्राम् महामात्यस्य प्रधानमन्त्रिणः मुद्रां चिह्नस्वरूपां मुद्रिकाम् अङ्गीकृत्य स्वीकृत्य नन्दनामानम् नन्दाख्यम् एनम् पूर्वचर्चितं निजपतिम्

स्वस्याधीश्वरं सान्द्रानन्दं सान्द्रः गाढः आनन्दः प्रमोदो यस्य तादृशं कुरु विधेहि । हे शत्रुतृण्यावलीनां हुतवह ! तृणानां समूहः, तृण्या शत्रवः तृण्या इवेति शत्रुतृण्या तासाम् आवलिः समूहः, तासां कृते हुतवहः वह्निः इव तदामन्त्रणम्, तव भवतः मुखे आनने जनकवत् तव पितृवत् अत्यादित्यम् आदित्यमतिक्रान्तम् इति तादृशम् संभृतम् पुञ्जीभूतम् तत् प्रसिद्धं तेजः प्रतापः भूयः पुनरपि भूर्यात् धृतं भूयात् । धारणार्थकस्य भृंगक सप्तम्यां रूपम् भूर्यादिति ।

विशेषः—मन्त्रित्वे स्वीकृते तव मुखे तादृशं तेजो भास्यति येन शत्रवो भृशं भीता भविष्यन्तीत्यतो मन्त्रित्व-मवश्यं स्वीकरणीयम् । मेघदूतेऽत्रत्यश्चतुर्थचरणोऽन्यार्थकः, इह च प्रकृतोपयोगितया तत्रत्यं 'हुतवह मुखे' इति समस्तं पदं विभज्य सङ्गमितम् । 'शत्रुतृण्यावलीनां हुतवहः' इत्यत्र रूपकालङ्कारः ॥४७।

अथ पूर्वं भोजनाय प्रार्थयते—

क्षामं कामं तव वपुरभूत् तत्र तीव्रै स्तपोभि-
र्भक्त्या क्लृप्तं प्रियतम ! मया भोजनं तत् कुरु प्राक् ।
दत्ता नाट्ये जितसुरवधूर्नर्तकीर्मर्दलानां,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥

अन्वय—

हे प्रियतम ! तत्र तीव्रैः तपोभिः तव वपुः कामम् क्षामम् अभूत्, तत् प्राक् मया भक्त्या क्लृप्तं भोजनं कुरु। पश्चात् मर्दलानाम अद्रिग्रहणगुरुभिः गर्जितैः नाट्ये दक्षा जितसुरवधूः नर्त्तकीः नर्तयेथाः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे प्रियतम ! **तत्र** गुरुसमीपे **तीव्रैः** अतिकठोरैः **तपोभिः** कायक्लेशादिनियमैः **तव** भवतः **वपुः** शरीरम् **कामम्** अत्यन्तम् **क्षामम्** कृशम् **अभूत्**, **तत्** तस्मात् **प्राक्** पूर्वं **मया** तव प्रियया कोशया **भक्त्या** श्रद्धया **क्लृप्तं** सम्पादितम् **भोजनम्** अशनम् **कुरु** विधेहि; **पश्चात्** भोजनान्तरम् **मर्दलानाम्** मृदङ्गानाम् **अद्रिग्रहणगुरुभिः** अद्रेः क्रीडापर्वतगुहायाः ग्रहणेन स्वान्तः पूरणेन गुरुभिः वृद्धिं गतैः **गर्जितैः** शब्दैः, **नाट्ये** नट-क्रियायाम् **दक्षाः** पट्वीः **जितसुरवधूः** जिताः रूपादिभिरधः कृताः सुरवध्व. देववनिताः याभिः ताः **नर्तकीः** नर्तनशिल्पिकाः **नर्तयेथाः** नर्तनाय प्रेरयेथाः ।

विशेषः—स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' इति न्यायेन चित्तस्वास्थ्यं पूर्वमपेक्षितम्, क्षीणे च शरीरे चित्तस्वास्थ्य-मसंभवि, तव वपु श्च तपसा बहुपरिक्षीणमिति वपुषः पोषणाय

पूर्वं भोजनमपेक्ष्यते, मया च पूर्वमेव त्वदर्थं श्रद्धया भोजनं सम्पादितमिति तदुपयुज्य पश्चान्मनसो रञ्जनाय स्वयमारब्ध-मृदङ्गवाद्यः तदनुसारिणी दक्षा नर्तकी नर्त्तयेथाः ।

अद्रिग्रहणगुरुभिरित्यत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥४८॥

पुण्यार्थमेव तपोऽभीष्टं तच्च पुण्यमन्यथापि सम्पाद्य-मित्याह—

पुण्याय त्वं स्पृहयसितरां तत् परं नोपकारात्,
स स्यात् प्रायः प्रियवर ! सरःकूपवापीविधानैः ? ।
कुर्याः श्रेयः प्रतिदिनमिदं तद् गृहस्थोऽपि लुम्पन्,
स्रोतोमूर्त्यां भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् ॥४९॥

अन्वयः—

'त्वं पुण्याय स्पृहयसितराम्, उपकारात् परं तत् न, हे प्रियवर ! स प्रायः सरः कूपवापीविधानैः स्यात् । तद् गृहस्थः अपि इदं श्रेयः प्रतिदिनं कुर्याः, किं भूतः ? स्रोतो-मूर्त्यां भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् लुम्पन्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

त्वं भवान् पुण्याय श्रेयः साधनाय स्पृहयसितराम् अत्यन्तं स्पृहां करोषि, उपकारात् परोपकरणात् परं उत्कृष्टं तत् पुण्यं न नास्ति, हे प्रियवर ! स परोपकारः प्रायः बाहुल्येन सरःकूपवापीविधानैः सरसां कूपानां

वापीनां च सम्पादनैः स्यात्, तत् तस्मात् गृहस्थः स्वगृहे स्थितः, गार्हस्थ्यमनुतिष्ठन् अपि इदं परोपकाररूपं श्रेयः पुण्यं कल्याणं वा प्रतिदिनम् दिने दिने कुर्याः विधेयाः, (किम्भूतः सन्) स्रोतोमूर्त्या चर्मण्वतीनदीप्रवाहरूपेण भुवि पृथिव्याम् परिणताम् फलिताम् रन्तिदेवस्य एतन्नाम्नः पौराणिकस्य राज्ञः कीर्त्तिम् ख्यातिं लुम्पन् विलोपयन्।

विशेषः—तपसा पुण्यमेव स्पृहयसीति निश्चितम्। पुण्यस्य च न केवलं तप एव साधनम्, परोपकारः पुण्येषु प्रथितः, उक्तं हि केनचित्—

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥" इति।

परोपकारश्च निर्जले प्रदेशे सरः कूपादीनां विधानाद् भवति। तच्च भवता गृहस्थेनापि प्रतिदिनं कर्तुं शक्यत इति गृहस्थत्वमेव धर्मकामोभयसाधकमाश्रयणीयम्। सरः कूपादि विधानैश्च चर्मण्वती नदी प्रवर्तकस्य रन्तिदेवस्य राज्ञः कीर्त्तिरप्यधिका कीर्त्तिस्तव भविष्यतीति भावः॥४६॥

अस्य पित्रा कृतां कीर्त्तिं श्रावयति—

यं तातस्ते पुरहितकृतेऽकारयच्छिल्पिसारैः,
प्राकारं तं स्फटिकघटितं नाथ! पश्याभ्रलग्नम्।

यं वीक्षन्ते दिवि दिविषदो नीलवेषायुतं श्रा-
गेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

अन्वयः—

'ते तातः यं शिल्पिसारैः पुरहितकृते अकारयत्, हे नाथ ! स्फटिकघटितं अभ्रलग्नं तं प्राकारं पश्य, नीलवेषायुतं यं दिविषदः दिवि स्थूलमध्येन्द्रनीलम् भुवः एकं मुक्तागुणं इव श्राक् वीक्षन्ते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

ते तव तातः जनक शकटालो मन्त्री यं प्राकारम् शिल्पिसारैः शिल्पिनां गृहादिनिर्माणकुशलानां सारैः मुख्यैः पुरहितकृते नगररक्षार्थम् अकारयत् निरमापयत्, हे नाथ ! स्फटिकघटितम् स्फटिकेन तन्नामकमणिना घटितं चितम् अभ्रलग्नम् मेघपर्यन्तोन्नतम् तम् उक्त रूपम् प्राकारम् प्राचीरं पश्य अवलोकय; नीलवेषायुतम् नीलया वेषया पण्यवीथ्या युतं सहितं यं प्राकारं दिविषदः दिवि स्वर्गे सीदन्ति निवसन्तीति ते देवाः दिवि आकाशे (स्थिताः सन्तः), स्थूलमध्येन्द्रनीलम् स्थूलः मध्यस्थितः इन्द्रनीलः तन्नामको नीलवर्णो मणिः यस्य तादृशम् भुवः पृथिव्याः एकम् मुक्तागुणम् मौक्तिकनिर्मितां मालाम् इव यथा श्राक् झटिति वीक्षन्ते अवलोकयन्ति ।

विशेषः—तत्र पिता पुररक्षार्थं निपुणतरशिल्पिभिः पुरस्यास्य स्फाटिकं प्राकारं मध्ये च नीलवर्णां पण्यवीथी मकारयत् ।

देवा आकाशस्थिताः प्राकारं पुरस्य परितः स्थितं मौक्तिकहारं नीलां पण्यवीथीं च तन्मध्यस्थितां, मौक्तिकहारमध्यस्थित महेन्द्रनीलमणिमिव पश्यन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । प्राकारः मुक्तागुणत्वेन तन्मध्यस्थिता नीला पण्यवीथिश्च महेन्द्रनीलमणित्वेनोत्प्रेक्ष्यते । एवञ्च त्वत् पितेदृशीं कीर्त्तिमकरोत् त्वयापि मन्त्रित्वं स्वीकृत्य काचिदद्भुता कीर्त्तिः करणीयेति कोशाया अभिप्रायः । अत्र 'वेषा' शब्दोऽप्रसिद्धः 'वेषो वैश्यजनालयः' इति कोशानुसारं वैश्यजनालये पण्यस्थाने प्रसिद्धः स एव कल्पितः स्त्रीत्वेन पण्यविथ्यामिह प्रयुक्त इति प्रकल्प्यैवं व्याख्यातम् ।।५०।।

सम्प्रति तव तपो योग्याऽवस्था नेत्याह—

कामो वामं रचयतितरां यौवने नाथ ! चित्तं,
योगाभ्यासोद्यतमतिभृतां योगिनामप्यवश्यम् ।
अङ्गीकुर्या वयसि चरमे धर्मभेदानतः स्वं,
पात्री कुर्वन् दृशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ।।५१।।

अन्वयः—

हे नाथ ! कामः योगाभ्यासोद्यतमतिभृतां योगिनाम् अपि चित्तं यौवने वामं अवश्यं रचयतितराम्, अतः चरमे वयसि स्वं दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् पात्री कुर्वन् धर्मभेदान् अङ्गीकुर्याः' ।

व्याख्या—

हे **नाथ** ! स्वामिन् ! **कामः** कन्दर्पः **योगाभ्यासोद्यतमतिभृतां** योगाभ्यासाय समाधिसेवनाय उद्यतां तत्परां मतिं बिभ्रति इति योगाभ्यासोद्यतमतिभृतः तादृशानाम् **योगिनाम्** चित्तवृत्तिनिरोधकृताम् अपि **चित्तम्** अन्तःकरणम् **यौवने** तारुण्ये **वामं** योगाभ्यासप्रतिकूलं **रचयतितराम्** अत्यन्तं विदधाति, अतः अस्मात् कारणात् **चरमे** चतुर्थे **वयसि** वृद्धावस्थायाम् **स्वम्** आत्मानम् **दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्** दशानां बह्वीनां पुरवधूनाम् पौरवनितानां नेत्राणां **कौतूहलानाम्** कौतुकानां **पात्रीकुर्वन्** विषयतां प्रापयन्, अन्यत्र **दशपुरवधूनां** जनपदविशेषवासिवनितानाम् इति व्याख्या **धर्मभेदान्** सुकृतविशेषान् **अङ्गीकुर्याः** आचरेः ॥

विशेषः—यौवने तपसे उद्यतस्य तव चित्ते कामेन वामतां नीते आरूढ पतितत्व योग्यता, अतः भोगस्पृहां

पूरयित्वा चरमे वयसि तपसे प्रव्रजन्तं भवन्तं पुरवध्वः सादर-मीक्षिष्यन्त इति तात्पर्यम् ॥५२॥

पुनर्मन्त्रित्वस्वीकारायैव प्ररोचयति—

औदासीन्यं परिहर ततः साम्प्रतं कातरार्हं,
निश्चिन्तं तं कुरु निजपतिं वैरिवारं विजित्य ।
युद्धे किं न स्मरसि घनवद् वैरिणां ते पिता य-
द्धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षद् मुखानि ? ॥५३॥

अन्वयः—

'ततः कातरार्हम् औदासीन्यं साम्प्रतं परिहर, वैरिवारं विजित्य तं निजपतिं निश्चिन्तं कुरु, त्वं किं न स्मरसि यत् ते पिता युद्धे कमलानि इव वैरिणां मुखानि धारापातैः घनवत् अभ्यवर्षत्' इत्यन्वयः ।

व्याख्याः—

ततः तस्माद् हेतोः कातरार्हं कातरेषु भीरुषु अर्हति औचित्यं भजते इति तादृशम् औदासीन्यम् उदासीनो मध्यस्थः तस्य भावः औदासीन्यम्, उपेक्षां साम्प्रतम् अस्मिन् समये परिहर परित्यज्य, वैरिवारं वैरिणां शत्रूणां वारं समूहं (सङ्घाते प्रकरौघवारनिकर व्यूहाः० अभि० ६-४७)

विजित्य अभिभूय तं पूर्वोक्तं निजपतिं स्वस्वामिनं नन्दं निश्चिन्तम् शत्रुसमुद्भूत चिन्तारहितं कुरु विधेहि । त्वं भवान् किं न स्मरसि कुतो न चेतयसे यत् ते तव पिता जनकः युद्धे संग्रामे कमलानि पद्मानि इव यथा वैरिणां शत्रूणां मुखानि आननानि धारापातैः खड्गादिधारा प्रहारैः घनवत् मेघवत् अभ्यवर्षत असिञ्चत् ।

विशेषः—यदिदं त्वयि सर्वविषयेषु औदासीन्यं दृश्यते तन्न तव योग्यम्, भीरव एवैवं कुर्वन्ति ये किमपि कर्तुं मनीशाः, त्वं तु शूरः सर्वस्मिन् कर्मणि युज्यसे इति त्वयीद मौदासीन्यं न घटते । तत श्च शत्रुविषयेऽप्युपेक्षां त्यक्त्वा शत्रुसमूहं विजित्य नन्दस्य चिन्तां नाशय । तव पिता तादृशो योद्धाऽऽसीत्—यत् मेघो यथा कमलानि वारिधारापातैः सिञ्चति तथा वैरिणां मुखानि खड्गादिधारापातैरसिञ्चत् । एवं त्वमपि च नन्दनराजशत्रुषु स्वपौरुषं प्रकटयेति भावः ॥ ५२ ॥

तपोलभ्यानि सुकृतानि गार्हस्थ्येऽपि सुलभानि बन्धुपालन यशश्च तत्राधिकमित्याह—

सीदन्तं किं सदयहृदयोपेक्षसे बन्धुवर्गं,
वाञ्छन् शुद्धिं त्वमिह विविधैर्दुस्तपैस्तैस्तपोभिः? ।

दत्तैः पात्रे सततममले गेहिधर्मे स्ववित्तै-
रन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५३॥

अन्वयः—

'हे सदयहृदय ! विविधैः दुस्तपैः तैः तपोभिः सिद्धिं वाञ्छन् त्वम् इह सीदन्तं बन्धुवर्गं किम् उपेक्षसे, गेहिधर्मे (स्थितः) अमले पात्रे सततं दत्तैः स्ववित्तैः अन्तः शुद्धः अपि त्वं वर्णमात्रेण कृष्णः भविता' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **सदयहृदय** ! दयया परदुःखापहरणेच्छया सहितं सदयम् तादृशं हृदयम् अन्तःकरणं यस्य तदामन्त्रणम्, **विविधैः** बहुप्रकारैः **दुस्तपैः** दुःखेन तप्तुं योग्यैः **तपोभिः** मनोवाक्कायसंयमैः **सिद्धिम्** अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिम् **वाञ्छन्** कामयमानः **त्वम्** स्थूलभद्रः **इह** लोके **सीदन्तं** त्वद् वियोगेन त्वत् प्रदत्तसंरक्षणालाभेन वा कष्टमनुभवन्तम् **बन्धुवर्गम्** बान्धवसमूहम् **किम्** कुतो हेतोः **उपेक्षसे** अवधीरयसि ? **गेहिधर्मे** गेहमस्य विद्यते इति गेही गृहस्थः तस्य धर्मे कर्तव्ये बन्धुरक्षादिरूपे (**स्थितः**) **अमले** निष्कलंके **पात्रे** दानोद्देश्ये **सततं** प्रतिदिनं **दत्तैः** वितीर्णैः **स्ववित्तैः** स्वोपार्जितद्रव्यैः **अन्तः** आत्मनि **शुद्धः** निर्मलः **अपि त्वम्** **वर्णमात्रेण** शरीररूपमात्रेण **कृष्णः** मलिनः **भविता** स्याता।

विशेषः—सुकृतार्जनस्य आत्मशोधनस्य वा द्वौ मार्गौ तपोऽनुष्ठानम्, गृहस्थधर्मपालनपूर्वकं सुकृतानुष्ठानं चेति। तत्र प्रथमो मार्गः कण्टकाकीर्णः कायक्लेशादिजनको बन्धूपेक्षारूपक्रूरतायुक्त श्च, द्वितीयः सकलबन्धुमनोभिलषित-पूरणपूर्वकं सुखानुभवेन साकं सुकृतोत्पादक आत्मशोधक-श्चेति सति सरले सुखकरे मार्गे किमिति कठिनेन मार्गेण गन्तव्यमिति गृहे स्थितिरेव श्रेयसीति भावः ॥ ५३ ॥

स्वकीयं पूर्वभोगानुभवं स्मारयन्ती
गङ्गोक्तिव्याजेन स्वाभिप्रायमाह—

रन्त्वाऽऽवाभ्यां चिरमुपवने जातगात्रश्रमाभ्यां,
सस्ने यत्र प्रिय ! कलजला स्वर्धुनी भाति सेयम्।
मुक्त्वा मां किं भ्रमसि भुवि येतीव फेनैर्हसन्ती,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५४॥

अन्वयः—

हे प्रिय ! चिरम् उपवने रन्त्वा जातगात्रश्रमाभ्याम् आवाभ्याम् यत्र सस्ने, कलजला स्वर्धुनी भाति। या मां मुक्त्वा भुवि किं भ्रमसि इति फेनैः हसन्ती इव इन्दुलग्नो-र्मिहस्ता शम्भोः केशग्रहणम् अकरोत्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे प्रिय ! चिरम् बहुकालपर्यन्तम् उपवने क्रीडोद्याने रन्त्वा सुरतादिक्रीडामनुभूय जातगात्रश्रमाभ्याम् जातः उत्पन्नः गात्राणां श्रमः शैथिल्यं ययो स्तथाभूताभ्याम् आवाभ्याम् मया त्वया च यत्र यस्यां गङ्गायां सस्ने स्नानं विहितं, कलजला कलम् अव्यक्तमधुरशब्दयुक्तं जलं तोयं यस्याः तादृशी सा इयम् प्रत्यक्षदृश्यमाना स्वर्धुनी देवनदी गङ्गा भाति शोभते । या गङ्गा "मां गङ्गां मुक्त्वा विहाय भुवि पृथिव्याम् इतस्ततः किं भ्रमसि कुतश्चरसि" इति एवम् (सूचनाय) फेनैः प्रसिद्धैः श्वेतद्रव्यैः (कृत्वा) हसन्ती उपहासं प्रकटयन्ती इव इन्दुलग्नोर्मिहस्ता इन्दुलग्नाः चन्द्रपर्यन्तं प्रसृताः ऊर्मयः तरङ्गा एव हस्तौ करौ यस्याः तादृशी सती शम्भोः शिवस्य केशग्रहणम् कचाकर्षणम् अकरोत् पूर्वं कृतवती ।

विशेषः—इयं गङ्गा ते चिरपरिचिता यत आवाभ्याम् उपवनरतिक्रीडा श्रान्ताभ्यामस्यामेव सदा स्नानं विधीयते स्म । इयमपि च स्वप्रियं शिवमेकाकि विहारिण तादृशकर्मणो निवारयन्ती स्वाधीन पतिकेव केशेषु धृत्वेव हसन्ती वदतिस्म ।

अत्र शम्भोः शिरसि स्थितायाः फेनधवलाया गङ्गायाः केशग्रहणमुत्प्रेक्ष्य इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः । अनया च योऽभिप्रायः

स्वप्रियं प्रति प्रकटितः स एव ममाभिप्रायोऽपि प्रियेण भवता विज्ञेयः। अस्ति च परम्पराप्राप्तोऽयमधिकारः प्रियवनितानां यतः स्वप्रियमन्यत्र विहारिणं बलादपि निवारयेयुरिति कोशायाः अभिप्रायः ॥ ५४ ॥

गङ्गाविहारार्थं प्ररोचयति—

अस्यां शस्याशय ! यदि भवान् नीरकेलिं प्रकुर्याद्,
युक्तस्ताभिः प्रिय ! सह मया मद्वयस्याभिराभिः ।
धौतैरासां मृगमदभरैः कज्जलैर्वा तदेषा,
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५५॥

अन्वयः—

हे शस्याशय ! भवान्, ताभिः आभिः मद्वयस्याभिः सह मया युक्तः यदि अस्यां नीरकेलिं प्रकुर्यात्, तद् एषा आसां धौतैः मृगमदभरैः कज्जलैः वा अस्थानोपगतयमुना सङ्गमा इव अभिरामा स्यात्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे शस्याशय ! शस्तः प्रशंसनीय आशयः हृदयाभिप्रायो यस्य तदामन्त्रणम् भवान् स्थूलभद्रः ताभिः पूर्वानुभूताभिः आभिः सम्प्रत्यपि तव समक्षं स्थिताभिः मद्वय-

स्याभिः मम सहचरीभिः सह मिलितय मया कोशया युक्तः मिलितः सन् यदि चेत् अस्यां गङ्गायाम् नीरकेलिं जलविहारं प्रकुर्यात् विदध्यात् तद् तर्हि एषा गङ्गा आसाम् मत्सहितानां मम सहचरीणाम् धौतैः क्षालितैः मृगमदभरैः स्तनादिस्थितैः कस्तूरिकासमूहैः कज्जलैः नेत्रस्थितैरञ्जनैः वा (युक्ता) अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा इव अस्थाने प्रयागातिरिक्ते देशे उपगतः प्राप्तः यमुनया कालिन्द्या सह सङ्गमः सन्निधानं यया सा इव अभिरामा मनोहरा स्यात् भवेत् ।

विशेषः—प्रयागे गङ्गा-यमुनयोः सङ्गमः प्रसिद्धः, इह पाटलिपुत्रे च मद्वयस्यानां मम च भवता सह जलक्रीडां कुर्वतीनां स्तनादिप्रदेशलिप्ते मृगमदभरे नेत्रस्थिते कज्जले च क्षालिते जलस्य नीलवर्णता सम्पत्तौ अस्थाने एवेयं गङ्गा नीलजलया यमुनया सङ्गता मनोहरा दृश्यते इति प्रतीतिः स्यात् तथा चेदृशशोभासम्पादनाय भवता जलक्रीडा विधेयेति भावः । अत्राप्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५५ ॥

जलक्रीडाकालिकं विशेषमाह—

क्रीडां तत्र त्वयि रचयति प्रीतचित्ते नितान्तं,
स्वर्णोच्छृङ्गीनिहितसलिलक्षेपणाद्यैर्विनोदैः ।

रोधः क्षुराणं तव हयखुरैर्लप्स्यते नाथ ! तस्याः,
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५६॥

अन्वयः—

'तत्र नितान्तं प्रीतचित्ते त्वयि स्वर्णोच्छृङ्गीनिहित-सलिलक्षेपणाद्यैः विनोदैः क्रीडां रचयति (सति) हे नाथ ! तव हयखुरैः क्षुण्णं तस्याः रोधः शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात-पङ्कोपमेयाम् शोभां लप्स्यते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

तत्र गङ्गायाम् नितान्तम् अत्यन्तम् प्रीतचित्ते प्रसन्न मनसि त्वयि भवति स्वर्णोच्छृङ्गीनिहितसलिल-क्षेपणाद्यैः स्वर्णस्य कनकनिर्मिता या उच्छृङ्गी भृङ्गाकारा-तोयक्षेपणी तस्यां निहितस्य स्थापितस्य सलिलस्य जलस्य क्षेपणं स्त्रीणामुपरि प्रक्षेपणम् आद्यं प्रथमं यत्र तादृशैः विनोदैः मनोरञ्जनैः क्रीडां जलकेलिं रचयति विदधति (सति) हे नाथ ! तव भवतः हयखुरैः अश्वपादाग्रैः क्षुण्णं मर्दितं तस्याः गङ्गायाः रोधः तटम् शुभ्रत्रिनयन-वृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् शुभ्रेण श्वेतेन त्रिनयनस्य शिवस्य वृषेण वृषभेण उत्खातेन उत्पाटितेन पङ्केन कर्दमेन उपमेयाम् उपमातुं योग्याम् शोभाम् कान्ति लप्स्यते प्राप्स्यति ॥

विशेषः—यदा त्वं तत्र क्रीडा निरतो भविष्यसि तदा तटस्थितैः स्तवाश्वैः गङ्गाया सेधः क्षुण्णं सत् हिमालये शिववृषेण रोधसि विहरता तटस्य उत्खाते सति या शोभा भवति तादृश्येव शोभा स्यादिति ॥ ५६ ॥

युक्त्यन्तरेण पुनरपि गृहस्थितये प्रेरयति—

धर्म्मेष्वाद्यामिह खलु दयामादिदेवो जगाद,
प्रोज्झन्नेतां निजपरिजने वेत्सि धर्मं न सम्यक् ।
सीदन्तं तन्निजजनममुं पालय स्वार्जितैः स्वै-
रापन्नार्त्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

अन्वयः—

'इह आदिदेवः धर्मेषु आद्यां दयाम् जगाद, निजपरिजने एतां प्रोज्झन् धर्मं सम्यक् न वेत्सि, तत् सीदन्तं निजजनं स्वार्जितैः स्वैः पालय, हि उत्तमानां सम्पदः आपन्नार्ति प्रशमनफलाः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

इह संसारे आदिदेवः (अस्यामवसर्पिण्यां) प्रथम-तीर्थङ्करः श्रीऋषभदेवः धर्मेषु सर्वेषु सुकृतेषु आद्यां प्रथमां प्रधानां वा दयां भूतकरुणां जगाद प्रोवाच । निजपरिजने

स्वानुजीविवर्गं एतां दया प्रोज्झन् त्यजन् (त्वम्) धर्मं सुकृतम् सम्यक् समीचीनरूपेण न वेत्सि नैव जानासि। तत् तस्मात् कारणात् सीदन्तम् दुःस्थितं निजजनं स्वानुजीविजनं स्वार्जितैः निजोत्पादितैः स्वैः वित्तैः पालय रक्षय, हि यतः उत्तमानां महतां जनानां सम्पदः धनानि आपन्नार्तिप्रशमनफलाः आपन्नानां आपत्पतितानां आर्त्तेः पीडायाः प्रशमनं नाशनमेव फलं यासां तथा भूतः भवन्तीति शेषः ॥

विशेषः—धर्मार्थी त्वं गृहजनं परित्यज्य प्रव्रजसि चेद् त्वया विना-सीदन्तस्तव परिजना विनंक्ष्यन्ति, ततो दया श्रीऋषभजिनादिदेवोक्तं मुख्यं धर्ममवेक्ष्यैषु परिजनेषु दयां कुरु, स्वोपार्जितेन धनेनैतान् पालय, एतदेव च सम्पदः फलमिति भावः ॥ ५७ ॥

न केवलं निजपरिजनरक्षार्थमेव, अपि तु स्वपितृसुहृदामपि हिताय मन्त्रित्वं स्वीकरणीयमेव भवतेत्याह—

आसाद्येदं निजपितृपदं पालयिष्यत्यसौ नो,
नूनं चित्ते सचिवसुहृदो ये विचार्येति तस्थुः।
प्राप्ते दीक्षां भवति बत ! तानाक्रमिष्यन्त्यमित्राः,
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ? ॥५८॥

अन्वयः—

'ये सचिवसुहृदः "असौ इदं निजपितृपदम् आसाद्य नः नूनं पालयिष्यति" इति चित्ते विचार्य तस्थुः, भवति दीक्षां प्राप्ते तान् अमित्राः आक्रमिष्यन्ति बत ! वा निष्फलारम्भ-यत्नाः के परिभवपदं न स्युः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

ये अनाख्येयनामानः सचिवसुहृदः सचिवस्य मन्त्रिणः (तव पितुः) सुहृदः मित्राणि-हितचिन्तकाः 'असौ स्थूल-भद्रः इदं सम्प्रति तस्य पित्रा अधिष्ठीयमानं निजपितृपदं निजस्य पितुः शकटालमन्त्रिणः पदम् स्थानम् आसाद्य प्राप्य नः अस्मान् नूनं निश्चितं पालयिष्यति रक्षिष्यति' इति एवं चित्ते स्वहृदये विचार्य निश्चित्य तस्थुः तव पितुः हितचिन्तने एव स्थिता बभुवः, भवति त्वयि दीक्षां चारित्रं प्राप्ते याते सति तान् सचिवसुहृदः अमित्राः शत्रवः (तव पितृवैरिणः) आक्रमिष्यन्ति अभिभविष्यन्ति बत ! इति खेद, एतच्चार्थान्तरन्यासालङ्कारेण समर्थयति–वा अथवा निष्फलारम्भयत्नाः निष्फलः परि-णामे विपरीतः आरम्भस्य क्रियायाः यत्नः येषां तादृशाः के जनाः परिभवपदं परिभवस्य परकृतानिष्टस्य पदं स्थानं न स्युः न भवेयुः, अपि तु भवेयुरेवेति काकुः ।

विशेष—सम्प्रति अयं प्रधानामात्यः, पश्चादपि अस्य सुयोग्यः पुत्र एवैतत्पदमासाद्यास्मान् पालयिष्यत्येवेति स्वचित्ते स्थिरीकृत्य ये जना स्तव पितुः सौहार्दमन्वतिष्ठन्, ते साम्प्रतं तव पितरि स्वर्गते त्वया च दीक्षायां स्वीकृतायां, पालकविकलाः तव पितुः जनाः शत्रुभिरभिभूता भविष्यन्ति। तेषां रक्षार्थमपि त्वया मन्त्रित्वं स्वीकरणीयमेवेति कोशाया अभिप्रायः ॥ ५८ ॥

मुक्तये व्रतमेव न कारणं, व्रतिनोऽपि पतन्ति गृहस्था अपि मुच्यन्ते इत्याह—

मा जानीष्व त्वमिति मतिमन्! यद् व्रतेनैव मुक्ति-
र्लेभे श्वभ्रं व्रतमपि चिरं कण्डरीकः प्रपाल्य।
गार्हस्थ्येऽपि प्रिय! भरतवद्वीतरागादिदोषाः,
संकल्पन्ते स्थिरगुणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५९॥

अन्वयः—

'हे मतिमान्! त्वम् इति मा जानीष्व यद् व्रतेन एव मुक्तिः, कण्डरीकः चिरं व्रतं प्रपाल्य अपि श्वभ्रं लेभे, हे प्रिय! वीतरागादिदोषाः श्रद्दधानाः गार्हस्थ्ये अपि भरतवत् स्थिरगुणपदप्राप्तये सङ्कल्पन्ते' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे **मतिमन्** ! बुद्धिमन् ! त्वम् स्थूलभद्रः इति वक्ष्यमाणं मा नहि जानीष्व अवधारय यद् **व्रतेन** मुनिकृत नियमेन एव केवलं **मुक्तिः** मोक्षः भवति इति शेषः (यतः) कण्डरीकः एतन्नामा मुनिः **चिरं** बहुकालं व्रतं मुनिनियमं **प्रपाल्य** अनुष्ठाय **अपि** श्वभ्रं नरकं **लेभे** प्राप्तवान्, (तथा) हे **प्रिय** ! **वीतरागादिदोषाः** वीता अपगताः रागादयः आदौ येषां ते राग-द्वेष-क्रोध-लोभ-काम-मात्सर्यादयः दोषाः चित्तविकारा येषां तादृशाः **श्रद्दधाना** श्रद्धावन्तो जनाः **गार्हस्थ्ये** गृहस्थजीवने सन्तः **अपि** **भरतवत्** सुप्रसिद्ध भरतवत् **स्थिरगुण** **पदप्राप्तये** स्थिराः निश्चला गुणाः शमादयो यत्र तादृशं यत्पदं कैवल्यं तस्य प्राप्तये लाभाय **सङ्कल्पन्ते** समर्था भवन्ति ।

विशेषः—मुक्तिप्राप्तौ गृहत्यागो न कारणम्, किन्तु रागादिदोष परित्याग एव । रागादौ स्थिते त्यक्तगृहा अपि पतन्ति, रागादि रहितश्च गृहस्थः सन्नेव रागादि-परित्यागान् मुक्तिं प्राप्तुं शक्नोति । कण्डरीकस्य आरूढ-पतितत्वं भरतस्य च जीवन्मुक्तत्वं सर्वजनप्रसिद्धमेवेति ॥५६॥

सङ्गीतविनोदाय प्रेरयति—

क्रीडाशैलं प्रिय! भज निजं तं विनोदाय यस्मिन्,
शब्दायन्ते मधुरमनिशं कीचका वायुयोगात्।
नादज्ञस्याऽलमिव तव सत्किन्नरीगीतनृत्यैः,
सङ्गीतार्थो ननु पशुपते स्तत्र भावी समग्रः ॥६०॥

अन्वयः—

'हे प्रिय! तं निजं क्रीडाशैलं विनोदाय भज, यस्मिन् कीचकाः वायुयोगात् अनिशं मधुरं शब्दायन्ते। तत्र सत्किन्नरीगीतनृत्यैः पशुपतेः इव नादज्ञस्य तव समग्रः सङ्गीतार्थः अलं भावी ननु' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे **प्रिय**! **तं** प्रसिद्धं **निजं** स्वीयं **क्रीडाशैलं** क्रीडार्थं निर्मितं पर्वतं **विनोदाय** आनन्दाय **भज** आश्रय, **यस्मिन्** पर्वते **कीचकाः** सच्छिद्रवंशाः **वायुयोगात्** अनलस्य छिद्रे प्रवेशात् **अनिशं** सर्वदा **मधुरं** प्रियं यथा स्यात् तथा **शब्दायन्ते** शब्दं कुर्वन्ति, **तत्र** तस्मिन् पर्वते **सत्किन्नरीगीतनृत्यैः** सतीनां सुन्दरीणां किम्पुरुषः स्त्रीणां गीतनृत्यैः गीतेन सह नर्त्तनैः **पशुपतेः** शिवस्य **इव** यथा **नादज्ञस्य** नादविषयविशेषज्ञस्य **तव** भवतः **समग्रः** सर्वाङ्गपूर्णः **सङ्गीतार्थः** तौर्यत्रिकप्रयोजनम् **अलं** कात्स्न्र्येन **भावी** भविष्यति **ननु** निश्चयेन।

विशेषः—त्वं सङ्गीतप्रियः, इह च क्रीडाशैले स्वभावत एव गीत-नृत्य-वाद्यरूपं तौर्यत्रिकं सङ्गीतं भवति, तथा च वायुपूरिताः कीचकाः वाद्यकार्यं कुर्वन्ति किन्नर्यश्च गीतनृत्ये विधत्तः, एवं च यथा शिवस्य क्रीड़ाशैले कैलाशे अनायासेन सङ्गीतं सर्वदा भवति तथा तवापि भविष्यति, शिवोऽपि नादविशेषज्ञस्तथा त्वमपि तद्विशेषज्ञ इति विना प्रयत्नेनैव तव मनोविनोदोऽत्र भावीत्याशयः ॥ ६० ॥

पूर्वोक्तं क्रीडाशैलं पुनर्विशिनष्टिः—

हित्वा स्वाद्रिं जिनपतिमहाचैत्यपूते प्रभूते,
स्त्रीभिः सार्द्धं विबुधनिचया यत्र खेलन्ति नाथ ? ।
तिर्यग्व्याप्यञ्जनगिरिरिवाभ्रं गतो भ्राजते यः,
श्यामः पादो बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—

'हे नाथ ! जिनपतिमहाचैत्यपूते प्रभूते यत्र विबुधनिचयाः स्वाद्रिं हित्वा स्त्रीभिः सार्धं खेलन्ति, तिर्यग्व्यापी अभ्रङ्गतः अञ्जनगिरिः इव यः बलिनियमनाभ्युद्यतस्य विष्णोः श्यामः पाद इव भ्राजते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **नाथ** ! स्वामिन् ! **जिनपतिमहाचैत्यपूते** जिनपतीनां जिनेश्वराणां तीर्थङ्कराणां महाचैत्यैः बृहद्धर्ममन्दिरैः पूते पवित्रीकृते **प्रभूते** अतिशयशालिनि **यत्र** क्रीडाशैले **विबुधनिचयाः** देववृन्दाः **स्वाद्रिं** स्वावासभूतं पर्वतं सुमेरुं **हित्वा** परित्यज्य **स्त्रीभिः** वनिताभिः **सार्द्धं** समं **खेलन्ति** विहरन्ति, **तिर्यग्व्यापी** तिर्यग् निरश्चीनरूपेण व्याप्नोति अभिव्याप्य तिष्ठति तच्छीलः **अभ्रंगतः** मेघपर्यन्तं प्राप्तः **अञ्जनगिरिः** तन्नामकपर्वतइ व **यः** क्रीडाशैलः **बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य** बलेः तन्नाम्नो दानवराजस्य नियमनाय संयमनाय अभ्युद्यतस्य तत्परस्य **विष्णोः** वामनावतारिणो हरेः **श्यामः** कृष्णवर्णः **पादः** चरण इव **भ्राजते** शोभते ॥

विशेषः—अयं क्रीडाशैलः शोभया सुमेरुमप्यतिशेते यतो देवाः सुमेरुं विहायात्र खेलनाय स्त्रीभिः सह समागच्छन्ति । किञ्चायं नीलवर्णप्रस्तरघटितत्वेन तिर्यग्रूपेणाप्युच्चैः स्थित इति बले र्नियमनाय ऊर्ध्वाधः क्रमेण प्रसारितो विष्णोः श्यामः पाद इव शोभते । यद्यपि पादसाम्यं पर्वतस्य दुरुपपन्नम्, तथापि समस्यापूरणे यथा कथंचित् सादृश्यमास्थेयमेव । मेघदूते च गङ्गास्रोतसि जलपानायावनतस्य मेघस्यैवमौपम्यं कृतमिति विज्ञेयम् । ६१ ॥

यदि मदीयावास समीपस्थे क्रीडाशैले न रुचिस्तर्हि पर्वतीये पित्र्ये प्रासादे वसेत्याह—

शैले लीलागृहमिह महत् कारितं तेऽस्ति पित्रा,
तस्मिन् वासं कुरु वर ? चिरं चेद्रतिर्नो तवाऽत्र ।
श्वेतज्योतिः स्फटिकमणिभिर्निर्मितं भ्राजते य-
द्राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६२॥

अन्वय—

हे वर ! चेत् अत्र तव रतिः न (तर्हि) इह ते पित्रा शैले महत् लीलागृहम् कारितम् अस्ति, तस्मिन् चिरं वासं कुरु, स्फटिकमणिभिः निर्मितं श्वेतज्योतिः यद् प्रतिदिनं राशीभूतः त्र्यम्बकस्याट्टहास इव भ्राजते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे वर ! व्रियते प्रियत्वेन स्वीक्रियते इति वरः तदामन्त्रणम्. चेत् यदि अत्र मदागारसन्निकटे क्रीडाशैले तव भवतः रतिः रुचिः न नास्ति (तर्हि) इह एतत्समीपस्थे ते तव पित्रा जनकेन मन्त्रिणा शकटालेन शैले पर्वतोपरि महत् सुविशालम् लीलागृहम् विनोदभवनम् कारितं निर्मापितम् अस्ति विद्यते तस्मिन् गृहे चिरं बहुकालं व्याप्य वासं स्थितिं कुरु विधेहि । स्फटिकमणिभिः

स्वनामख्यातरत्नैः निर्मितम् रचितं श्वेतज्योतिः शुक्ल-प्रकाशं यद् गृहं, प्रतिदिनं दिने दिने राशीभूतः एकत्रितः त्र्यम्बकस्य त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य स त्र्यम्बकः शिवः तस्य अट्टहासः अति महान् हासः अट्टहासः (अट्ट-हासो महीयसिः, अभि० २-२११, मृडोऽट्टहासिन इत्यादिः अभि०।२.१११) शिवस्य हासः प्रसिद्धः स इव यथा भ्राजते शोभते।

कविसम्प्रदाये हासस्य श्वेतं रूपं प्रसिद्धम्, शिवश्चा ट्टहासी ख्यातः, तदीयाट्टहासस्य राशिरिवेदं भवनं प्रतीयते इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः॥

विशेषः—मदीगृहसमीपस्थे मत्सम्बन्धिनि क्रीडाशैले वासे लोकापवाद भीतस्य ते यदि न रुचिः स्यात् तर्हि पित्र्ये एव पर्वतीव लीलागारे वासं कुरु। सोऽपि महार्हमणि-निर्मितः शुक्लरूपेण दीप्यमान स्तवविनोदाय स्यादेव। न मया स्वार्थरतया स्वसमीपस्थितये त्वं प्रार्थ्यसे, मदावासा-दन्यत्रापि स्थित्वा त्वं पितृपदमलङ्कुरु एतावानेव ममाभि-लापः इति कोशया वेश्यया प्रकाश्यते॥ ६२॥

तद्भवनगवाक्षसमीपे स्थितस्यास्य भाविनीं शोभां वर्णयति—

त्वय्यारूढे रजतरचितं सारमुच्चैर्गवाक्षं,
देहच्छायाजितहरिरुचौ चारु कृत्वा विनोदान् ।
पश्यत्वेष प्रिय ? परिजनः साधु सौधस्य शोभा-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६३॥

अन्वयः

'हे प्रिय ! देहच्छायाजितहरिरुचौ त्वयि चारु विनोदान् कृत्वा रजतरचितं सारम् उच्चैर्गवाक्षम् आरूढे (सति) एष परिजनः मेचके वाससि अंशन्यस्ते सति हलभृत इव सौधस्य साधु शोभां पश्यतु' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे प्रिय ! देहच्छायाजितहरिरुचौ देहस्य शरीरस्य छायया कान्त्या जिता हरेः विष्णोः रुचिः कान्तिः येन तादृशे त्वयि स्थूलभद्रे चारु सम्यक् विनोदान् विहारान् कृत्वा विधाय रजतरचितम् रजते चन्द्र द्रव्येण रचि निर्मितम् सारम् दृढम् उच्चैः प्रोन्नतं गवाक्षं वातायनम् आरूढे अधिष्ठिते (सति) एष त्वत्सन्निहितः परिजनः सेवकवर्गः मेचके नीले वाससि वस्त्रे अंशन्यस्ते स्कन्धोपरिस्थापिते सति विद्यमाने हलभृतः बालरामस्य इव यथा शोभां कान्तिं पश्यतु अवलोकयतु ॥

विशेषः—श्वेतवर्णोऽयं सौधः तदुपरि स्निग्धकृष्णवर्णे त्वयि एकतः स्थिते सति गौरस्य बलदेवस्य स्कन्धोपरि-स्थितेन नीलवस्त्रेण यादृशी शोभा जायते तादृश्येवास्य सौधस्यापि भविष्यतीत्यभिप्रायः। पूर्णोपमालङ्कारः। देहच्छायाजितहरिरुचाविति कथनेन स्वस्य प्रीतिर्व्यञ्जिता ॥६३॥

तत्रत्यं कर्तव्यमाह—

तस्मिन्नद्रौ भवभयहरं नाभिजन्मानमीशं,
नत्वा देवं तदनु सुभगाऽऽलोकयेः कौतुकानि।
आयान्त्या मे भवदनु पुनर्वर्त्म कुर्वन् सुगम्यं,
सोपानत्वं कुरुमणितटारोहणायाग्रयायी ॥ ६४ ॥

अन्वयः—

हे सुभग ! तस्मिन् अद्रौ भवभयहरं देवं नाभिजन्मानम् ईशम् नत्वा तदनु कौतुकानि आलोकयेः, पुनः भवदनु आयान्त्या मे सुगम्यम् वर्त्मकुर्वन् अग्रयायी मणितटारोहणाय सोपानत्वं कुरु' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे सुभग ! अस्मिन् पूर्वोक्ते अद्रौ पर्वते भवभयहरं सांसारिकभीतिनिवारकं देवं नाभिजन्मानम् नाभेः विष्णुनाभिकमलाज्जन्म यस्यासौ नाभिजन्मा ब्रह्मा तम् अथ

च नाभे स्तन्नाम्नो राज्ञो जन्म यस्य तं नाभेयं आद्यं जिनविशेषम् **ईशम्** ऐश्वर्यशालिनं **नत्वा** प्रणम्य **तदनु** प्रणामानन्तरम् **कौतुकानि** तत्रत्याद्भुतानि **आलोकयेः** पश्येः। पुन तत्पश्चात् **भवदनु** भवतः पश्चाद् **आयान्त्याः** आगच्छन्त्याः **मे** मम कोशायाः **सुगम्यम्** सुखेन गन्तुं योग्यं **वर्त्म** मार्गम् **कुर्वन्** विदधत् **अग्रयायी** अग्रे यातुं शीलमस्येति तथाभूतः **मणितटारोहणाय** तस्यैव पर्वतस्य मणिभिर्विहिते **तटे** प्रान्तभागे **आरोहणाय** उपरिगमनाय **सोपानत्वं** निःश्रेणिकाभावं **कुरु** विधेहि ।

विशेषः—सर्वत्रादौ देववन्दनमाचरणीयमिति शिष्टाचारपरिपालनाय तत्रैव पर्वते स्थापितं नाभेयं श्रीऋषभजिनेन्द्रं प्रणम्य पश्चाद् भवन्तमनुसरन्त्यो मे सुखेन मणितट प्राप्तये मार्गस्थं निम्नोन्नतादिप्रदेशं समीकारयन् मामवलम्ब्याग्रतो गच्छन् असत्यपि सोपाने भवतैव तत्कर्म सम्पादनीयमिति। अनेन स्वस्याबलाभावप्रकटनपूर्वकं स्वाधीनपतिकात्वगर्वः सूचितः ॥ ६४ ॥

तत्रत्यमेव विशेषं वर्णयति—

शृङ्गे तस्मिन् नयनसुभगं चारुरूपा यदि त्वां,
विद्याधर्यः स्मरविधुरिताः प्रार्थयेयुर्निरीक्ष्य ।

अक्षोभ्यस्त्वं सुरयुवतिभि र्नाथ ! धिक्कारवाचां,
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥६५॥

अन्वयः—

'हे नाथ ! तस्मिन् शृङ्गे चारुरूपाः स्मरविधुरिताः विद्याधर्यः नयनसुभगं त्वां निरीक्ष्य यदि प्रार्थयेयुः (तर्हि) सुरयुवतिभिः अक्षोभ्यः त्वम् धिक्कारवाचां श्रवणपरुषैः गर्जितैः क्रीडालोलाः ताः भाययेः' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे नाथ ! स्वामिन् ! तस्मिन् मणिनिर्मिते शृङ्गे पर्वत शिखरे चारुरूपाः चारु मनोहरं रूपं यासां ताः स्मरविधुरिताः स्मरेण कामेन विधुरिताः पीडिताः विद्याधर्यः विद्याधरदेवजातिवनिताः नयनसुभगं नयनयोः नेत्रयोः कृते सुभगं सुन्दरं त्वां स्थूलभद्रं निरीक्ष्य समवलोक्य प्रार्थयेयुः रत्यर्थं प्रेरयेयुः तर्हि सुरयुवतिभिः देवतरुणिभिः (अपि) अक्षोभ्यः चारित्राद-विचालनीयः त्वम् धिक्कारवाचां तिरस्कारवचसां श्रवण-परुषैः कर्णकटुभिः गर्जितैः उच्चै र्वचनैः क्रीडालोला लीलाव्यग्राः ताः विद्याधरीः भाययेः भीताः कुर्याः ॥

विशेषः--तत्र पर्वते विद्याधर्योऽपि विहारार्थमागच्छन्ति, ताश्च सुरूपं त्वां दृष्ट्वा सह क्रीडार्थं प्रार्थयेयुरिति सम्भाव्यते, त्वञ्च सुरयुवतिभिरपि न चारित्रात् चालनीयोऽसि, का तवाग्रे तासां गणना, (यद्यपि ता अपि देवयोनि विशेषा स्त्रिय एव, परन्तु मुख्यदेवयोने श्च्युता इति तासामधमत्वमेव सुरयुवत्य-पेक्षयेति विज्ञायैव मुच्यते) इति ता उच्चैः कटुभिर्वचनै र्भर्त्सयेरित्युपदिश्यते। यद्यपि गर्जितं मेघादिशब्दविषये एव प्रयुज्यते, मेघदूते च प्रकृतश्चरणो मेघायैवोपदिश्यते, तथापि समस्यापूर्तौ नैतदनौचित्यमुद्भावनीयमिति ॥ ६५ ॥

पुन स्तत्रत्य विहारप्रकारमेव वर्णयति—

आरामेषु प्रिय ! विरचयं स्तत्र पुष्पावचायं,
श्रान्तो भ्रान्त्या सुभग ! विदधद् दीर्घिकास्वम्बुकेलिम्।
वादित्राणां मधुरनिनदैर्नर्तयन् केकिवृन्दं,
नानाचेष्टैर्जलदललितै र्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६६॥

अन्वयः--

'हे प्रिय ! सुभग ! तत्र आरामेषु पुष्पावचायं विरचयं भ्रान्त्या श्रान्तः दीर्घिकासु अम्बुकेलिं विदधत्, वादित्राणां मधुरनिनदैः केकिवृन्दं नर्तयन्, नानाचेष्टैः जलदललितैः तं नगेन्द्रं निर्विशेः' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे प्रिय ! हे सुभग ! तत्र पितुः पर्वतीयावासे आरामेषु उपवनेषु **पुष्पावचायम्** पुष्पाणां हस्तप्राप्याणां क्षुद्रवृक्ष-कुसुमानाम् अवचायम् अवचनम् (हस्तप्राप्ये चेरस्तेये [५-३-७८] इति घञि) अवचायः तं संग्रहं **विरचयम्** विदधत् **भ्रान्त्या** भ्रमणेन बहुकालं पादविहारेण **श्रान्तः** श्रमं प्राप्तः **दीर्घिकासु** वापीसु **अम्बुकेलिं** जलक्रीडां **विदधत्** कुर्वन्, **वादित्राणां** मृदङ्गादिवाद्यानाम् **मधुर-निनदैः** मधुरैः शब्दैः **केकिवृन्दं** मयूर समूहं **नर्त्तयन्** नृत्यं कारयन् **नानाचेष्टैः** नानाबहुविधाः चेष्टाः क्रिया यस्मिंस्तथाभूतैः **जलदललितैः** जलदवत् मेघवत् ललितैः क्रीडितैः **तं** पूर्वोक्तम् **नगेन्द्रम्** पर्वत श्रेष्ठं **निर्विशेः** उपभुञ्जेः ॥

विशेषः—मेघोऽपि पुष्पाणि संगृह्णाति वर्षासु बहु-पुष्पाणां प्रादुर्भावात्, क्वचित् जलाशयात् जलग्रहणसमये केलिमपि विदधाति गर्जनशब्देन मयूरानपि नर्तयतीति त्वमपि तथा कुर्वन् मेघो यथा पर्वतमुपभुङ्क्ते तथैवोपभुञ्जेरि-त्याशयः ॥ ६६ ॥

पर्वते कतिचिद्दिन्यान्यतिवाह्य पुनरपि पाटलिपुत्र-मेवागच्छेरित्याह—

आगच्छेः स्वां पुनरपि पुरं नाथ ! नीत्वा दिनानि,
क्रीडाशैले कतिचिदसमां दर्शयन् स्वश्रियं ताम् ।
यत्राभ्राप्तैर्वहति बहुलै धूपधूमैः सदा द्यौ-
र्मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६७॥

अन्वयः—

हे नाथ ! असमां तां स्वश्रियं दर्शयन् क्रीडाशैले कतिचिद् दिनानि नीत्वा पुनरपि स्वां पुरम् आगच्छेः, यत्र द्यौः अभ्राप्तैः बहुलैः धूपधूमैः कामिनी मुक्ता जालग्रथितम् अलकम् इव मेघवृन्दं सदा वहति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे नाथ ! असमाम् नास्ति समा तुल्या श्री यस्याः ताम् अद्वितीयाम् तां प्रसिद्धाम् स्वश्रियम् स्वसम्पदम् दर्शयन् प्रकटीकुर्वन्, क्रीडाशैले पितृसम्बन्धिनि लीला-पर्वते कतिचित् गणितानि दिनानि दिवसान् नीत्वा अतिवाह्य पुनरपि भूयोऽपि स्वां स्वकीयां पुरम् नगरीम् पाटलिपुत्रम् आगच्छेः परावर्त्तथाः, यत्र पुरि द्यौः आकाशः अभ्राप्तैः मेघपर्यन्तं गतैः बहुलैः घनीभूतैः धूपधूमैः धूपार्थं निमित्तै धूमैः कामिनी काचिद्वनिता मुक्ता-जालग्रथितम् मौक्तिकसमूहगुम्फितम् अलकं केशपाशम्

इव यथा अभ्रवृन्दम् मेघसमूहं सदा वर्षातिरिक्तेऽपि सर्वस्मिन् समये वहति धारयति ॥

विशेषः---पुराद्बहिः सर्वदाऽवस्थाने तु मन्त्रिकृत्यं सम्पादयितुमशक्यमिति केवलं स्वसम्पदोऽतुलनीयतादर्शनाय तदुपभोगाय च कतिचिदेव दिनानि तत्र स्थित्वा पुनरपि पाटलिपुत्रमेवागच्छेः । अत्र धूमधूमैः सर्वदा आकाशस्य व्याप्त तया पूरियं मेघवृन्दं सदा वहतीति प्रतीयते । कामिनी यथा मौक्तिक शोभितमलकं बिभर्त्ति तथैवेयं पुरीति ॥६७॥

पुरीं विशिनष्टि--

स्निग्धच्छायं बहुलविमलच्छायया शालमाना,
नित्यामोदाः प्रविततमुदं भूरिवित्ताः सुवित्तम् ।
रत्नज्योति र्विधुततमसो नाथ ! निर्धूतपापं,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तै र्विशेषैः ॥६८॥

अन्वय—

'हे नाथ ! यत्र बहुलविमलच्छायया शालमानाः नित्यामोदाः भूरिवित्ताः रत्नज्योतिर्विधुततमसः प्रासादाः स्निग्धच्छायं प्रविततमुदं सुवित्तम् निर्धूतपापं त्वां तैस्तैः विशेषैः तुलयितुम् अलम्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे नाथ ! स्वामिन् ! यत्र पाटलिपुत्रनगर्यां बहुलविमलच्छायया बहुलया प्रभूतया विमलया निर्मलया छायया कान्त्या शालमानाः शोभमानाः, नित्यामोदाः नित्यं प्रतिदिनम् आमोदः उत्सवानन्दः येषु ते, भूरिवित्ताः भूरि बहुतरं वित्तं धनं येषु ते, रत्नज्योतिर्विधुततमसः रत्नानां मणीनां ज्योतिभिः प्रकाशैः विधुतं दूरीकृतं तमः अन्धकारो यैस्ते, प्रासादाः सौधाः, स्निग्धच्छायं स्निग्धा मनोहरा छाया कान्ति र्यस्य तम्, प्रविततमुदं प्रवितता सुविस्तृता मुद् हर्षो यस्य तम्, सुवित्तम् सुष्ठु शोभनं वित्त धनं यस्य तम्, निर्धूतपापं निर्धूतं निःशेषेण दूरीभूतं पापं कल्मषं यस्य तं त्वां भवन्तं तैस्तैः पूर्वोक्तैः विशेषैः व्यावर्तकगुणैः तुलयितुं समतां कर्तुम् अलं समर्थाः सन्ति।

विशेषः—अत्रत्याः प्रासादा जडा अपि त्वया सह स्पर्धन्ते इतीव प्रतीयते। तथाहि-यथात्वं मनोहरकान्तिः तथा तेऽपि प्रभूतकान्त्या शोभन्ते, यथा च त्वं हर्षं विस्तारयसि तथा तेऽपि नित्योत्सवाः सन्ति, तेष्वपि प्रतिदिनं हर्षोल्लास एव तिष्ठति, यथात्वं बहुधनवानसि तथा तेऽपि धनैः पूर्णाः, त्वं निर्धूतपापरूपतमाः असि, तेऽपि स्वस्थितरत्नप्रकाशेन वितमसः सन्ति, इत्येवं स्वविशेषैस्ते तव तुलनां कर्तुं समर्थाः सन्तीति स्पष्टम् ॥ ६८ ॥

अत्रत्यानां वधूनां विशेषमाह—

अर्हद्भक्तिर्वसति हृदये तारहारेण साकं,
मूर्त्तौ कान्तिः स्फुरति च सदा शीलधर्मेण सार्द्धम् ।
चित्ते सातं घनसमयजं विद्यते साम्प्रतं सत्,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥६१॥

अन्वयः—

यत्र वधूनां हृदये तारहारेण साकम् अर्हद्भक्तिः वसति, मूर्तौ च शीलधर्मेण साकं कान्तिः सदा स्फुरति, चित्ते साम्प्रतं त्वदुपगमजं सत् सातं विद्यते, सीमन्ते च धनसमयजं नीपं विद्यते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे वधूनाम्, स्त्रीणां (स्त्री नारी वनिता वधूः [अभिधान० ३, १६७] हृदये अन्तःकरणे हृदयप्रदेशोपरि च तारहारेण तारेण उज्ज्वलेन हारेण मौक्तिकमालया साकं सह अर्हद्भक्तिः अर्हतां जिनानां भक्तिः श्रद्धा वसति स्थितिं करोति, (वधूनां) मूर्त्तौ स्वरूपे शीलधर्मेण शीलरूपेण धर्मेण सार्द्धं सह कान्तिः शोभा सदा सर्वदा स्फुरति प्रतिभासते, (वधूनां) चित्ते मनसि साम्प्रतं सद्यः त्वदुपगमजं भवत्सम्पर्कसम्भूतं सत् सुन्दरं

सातं सुखं विद्यते (वधूनां) सीमन्ते केशपाशे च घनसमयजं वर्षाकालोत्पन्नं नीपं कदम्बकुसुमं विद्यते ॥

विशेषः—अत्रत्या नार्यो यथा विलासिन्य स्तथा श्रद्धालवः शीलवत्यः त्वय्यनुरक्ताः च सन्तीत्यनेन श्लोकेन वर्णितम् । अत्र तृतीयपादस्थितं 'घनसमयजम्' इति पदं चतुर्थपादस्थितेन नीपेनान्वितम्, चतुर्थपादस्थितं त्वदुपगमजमितिपदं च तृतीयपादस्थितेन सातेनान्वितम् इति दूरान्वयः करणीयो भवति। शक्यते च त्वदुपगमजमिति पदं तृतीये पादे, घनसमयजमिति पदं चतुर्थे पादे पठितुम्, किन्तु चतुर्थ पादो मेघदूतीय एव स्थापनीय इति तस्य परिवर्तनानर्हतमेवं दूरान्वयोऽगत्या स्वीकरणीय एव समस्या पूर्तये इत्यदोष इति बोध्यम् ॥ ६६ ॥

पुनरपि पुरीमेव विशिनष्टि—

गङ्गागौराः सितकरहयाकारचौरास्तुरङ्गाः,
शृङ्गोत्तुङ्गा ललितगतयो दानवन्तो गजेन्द्राः ।
लीलावत्योऽखिलयुवतयो यत्र वीरावतंसाः,
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥७०॥

अन्वयः—

'यत्र गङ्गागौराः तुरङ्गाः सितकरहयाकारचौराः (सन्ति) शृङ्गोत्तुङ्गा गजेन्द्राः ललितगतयः दानवन्तः (सन्ति) अखिलयुवतयः लीलावत्यः (सन्ति) वीरावतंसाः चन्द्रहासव्रणाङ्कैः प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः (सन्ति)' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे गङ्गागौराः गङ्गावत् गङ्गाजलप्रवाहवत् गौराः श्वेतवर्णाः तुरङ्गा सितकरहयाकारचौराः सितकरस्य श्वेतकिरणस्य सूर्यस्य हयानाम् अश्वानामाकरं स्वरूपं चोरयन्ति लुम्पन्ति इति तादृशाः (सन्ति) [यद्यपि सूर्यस्य हयाः हरितवर्णाः सन्तीति पुराण प्रसिद्धिः तथापीह तेषां न वर्णेन सादृश्यमपि तु आकार महत्त्वादिनेति विज्ञेयम्], शृङ्गोत्तुङ्ग शृङ्गवत् पर्वत शिखरवत् उत्तुङ्गा उन्नताः (शृङ्गं तु कूटं शिखरम्०' अभि० ४-९८) गजेन्द्राः महागजाः ललितगतयः सलील गमनाः दानवन्तः मदशालिनः (सन्ति) अखिलयुवतयः सर्वास्तरुण्यः लीलावत्यः कामक्रीडाचतुराः (सन्ति) वीरोत्तंसाः वीरा उत्तंसा इव भूषणानीव इति वीरोत्तंसाः श्रेष्ठवीरा चन्द्रहासव्रणाङ्कैः चन्द्रहासेन खड्गेन ये व्रणाः आघाताः तेषा मङ्कैः चिह्नभूतैः किणैः प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः प्रत्यादिष्टा प्रत्याख्याता

आभरणानां भूषणानां रुचयः कान्तयो यै स्तथा भूताः (सन्ति)।

विशेषः—अत्रत्या हयाः सूर्यहयाकाराः गजाः सर्वे मदशालिनः युवतयो रतिशीलाः वीराश्च सम्मुखप्रहारसहाः सन्ति। चन्द्रहासशब्दो यद्यपि रावणस्य खड्गविशेषे प्रसिद्धः, मेघदूते च तदाशयेनैव प्रयुक्तः, तथापीह सामान्य-खड्गबोधकतया प्रयुक्तः, खड्गनामस्वपि पठितोऽभिधान-चिन्तामणौ ३-४४६। वीरा भूषणशोभातोऽधिकं खड्ग-व्रणाङ्कमेव मन्यते इति तात्पर्यम्॥ ७०॥

तामेव पुरीं पुनरपि विशिनष्टि—

स्नेहादन्यद् न भवति परं बन्धनं यत्र किञ्चि-
च्चिन्ता काचिन्न भवति परा यत्र धर्मं विहाय।
कश्चिद् यस्मिन् न भवति परो राजहंसात् सरोगो
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥७१॥

अन्वयः—

'यत्र स्नेहाद् अन्यत् परं बन्धनं किञ्चिद् न भवति, धर्मं विहाय परा काचित् चिन्ता न भवति, यस्मिन् राजहंसात् परः कश्चित् सरोगः न भवति, वित्तेशानां च यौवनाद् अन्यद् वयः न अस्ति' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे स्नेहाद् परस्परं प्रेम्णः अन्यद् भिन्नं परं दृढं बन्धनं गतिनिवारकं न भवति नास्ति, (यत्र) धर्मं अभ्युदयनिःश्रेयससाधनं सुकृतं विहाय परित्यज्य परा अन्या चिन्ता न भवति, यस्मिन् पाटलिपुत्रे राजहंसात् मरालात् परः अन्यः सरोगः रोगेण सहितः न भवति राजहंस एव सरोग शब्देनोच्यते नान्यः तस्य सरसि गच्छतीत्यर्थक सरोगशब्द वाच्यत्वात्।

अन्ये केचन सरोगशब्देन रोगसहितार्थवाचकेन नाभिधीयन्ते। श्लेषोऽलङ्कारः। (यत्र) वित्तेशानाम् धनिकानां जनानां च यौवनाद् तारुण्याद् अन्यत् परं वार्द्धक्यम् वयः शरीरावस्था न अस्ति भवति। धनिकाः सर्वे रसायनाद्युपयोगेन यौवनमेवानुभवन्ति न वार्द्धक्यमिति भावः।

विशेषः—यत्र नगरे सुनयेन परिपाल्यमाने रज्जुशृङ्खलादि बन्धनं कुत्रापि नोपयुज्यते केवलं स्नेहबन्धनेनैव जनाः परस्परं बद्धा सन्ति। धर्मविषये एव कर्तव्याकर्तव्यचिन्ता जायते न तु दुःखशोकादिकृता। किंच सरसि गच्छतीति व्युत्पन्नेन 'सरोग' शब्देन राजहंसादयो जलचरा एवोच्यन्ते न तु रोगयुक्तत्वार्थकेन सरोगशब्देनान्ये जनाः।

यत्र च धनिकाः सर्वदा युवान एव तिष्ठन्ति न तु वृद्धा भवन्ति। परिसंख्यालङ्कारः।

मेघदूते चात्रत्यश्चतुर्थः पादो यक्षाणां सर्वदा यौवनशालित्वमेवेति तात्पर्येण प्रयुक्तः त एव वित्तेशपदवाच्याः, अत्र च प्रकरणानुसारं धनिकपरतया वित्तेशपदं व्याख्येयम्। मेघदूतेऽलकापुरी वर्णयते एवमुच्यते। अत्रापि पाटलिपुत्रस्य तत् साम्यव्यञ्जनायैवमुक्तमिति हृदयम् ॥ ७१ ॥

भूयः पुरीमेव वर्णयति—

वेणीदण्डो जयति भुजगान् मध्यदेशो मृगेन्द्रान्
यासामास्यं प्रिय ! परिभवत्युच्चकैश्चन्द्रबिम्बम्।
चैत्ये नृत्यन्त्यतुलमसकृद् यत्र वाराङ्गनास्ता-
स्त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥७२॥

अन्वयः—

'हे प्रिय ! यासाम् वेणीदण्डः भुजगान् जयति, मध्यदेशः मृगेन्द्रान् जयति, आस्यम् चन्द्रबिम्बम् उच्चकैः परिभवति ताः वाराङ्गनाः यत्र, त्वद् गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु शनकैः आहतेषु चैत्ये असकृत् अतुलं नृत्यन्ति' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे प्रिय ! यासाम् वाराङ्गनानाम् वेणीदण्डः वेणी केशजूटिका एव दण्डः दण्डाकारं लम्बायमाना केशजूटिकेति यावत् भुजगान् सर्पान् जयति परिभवति यथा सर्पा जनान् भीपयन्ति तथैव ततोऽप्यधिकं वा वेश्यानां वेणीदण्डं दृष्ट्वा जनाः कामभीता भवन्तीति आकारतोऽपि साम्यात् सर्पजयिन स्ते कथ्यन्ते, मध्यदेश : कटिप्रदेशः मृगेन्द्रान् सिंहान् जयति, सिंहाः कटिप्रदेशे क्षीणा भवन्ति ततोऽप्यधिकं क्षीणक हयस्ता इति भावः, आस्यं मुख चन्द्रबिम्बम् शशिमण्डलम् उच्चकैः अत्यन्तम् परिभवति जयति ताः पूर्वोक्तरूपाः वाराङ्गना वेशयोषितः यत्र पाटलिपुत्रे त्वद् गम्भीरध्वनिषु तवेव गम्भीरः ध्वनिः येषां तादृशेषु पुष्करेषु मृदङ्गेषु शनकैः मन्दम् आहतेषु ताडितेषु चैत्ये देवमन्दिरे असकृत् वारंवारम् अतुलम् अनुपमं यथा स्यात् तथा नृत्यन्ति । नर्तनं कुर्वन्ति ।

विशेष—अत्र वेश्यानां, वेणीदण्डेन भुजगानाम्, मध्येन मृगेन्द्राणाम्; आस्येन चन्द्रमण्डलस्य च परिभूतत्वकथनेन एषां परस्परं सादृश्यं ध्वन्यते इत्युपमालङ्कार ध्वनिः । मृदङ्गानां च नायकध्वनीवद् गम्भीरत्व कथनेन नायक ध्वनौ मृदङ्गध्वनिसाम्यमपि व्यक्तमिति, तेन तस्य

नायकस्य सौलक्षण्यं प्रकटितम् गम्भीरध्वनेः- सौभाग्यसूचक-त्वात् । अत्र नगरे देवमन्दिरेषु सुन्दर्यो वेश्याः पूजादि-समयेषु नृत्यन्तीति तात्पर्यम् ॥ ७२ ॥

नगर्यां अभिसारिका वृत्तान्तं सूचयति—

मालास्रस्तै र्विविधकुसुमैः कुङ्कुमाक्तांह्रिचिह्नै-
स्ताम्बूलेन क्षितितलगतेनार्द्धजग्धेन यत्र ।
हेमाम्भोजैः श्रवणपतितै र्भूषितैर्भूरिवासै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥७३॥

अन्वय—

'यत्र कामिनीनां नैशः मार्गः सवितुः उदये सति, मालास्रस्तैः विविधकुसुमैः, कुङ्कुमाक्तांह्रिचिह्नैः क्षितितल-गतेन अर्धजग्धेन ताम्बूलेन श्रवणपतितैः हेमाम्भोजैः भूषितैः भूरिवासैः सूच्यते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे कामिनीनां विलासिनीनाम् नैशः निशाया अयं नैशः रात्रि सम्बन्धी मार्गः अभिसारमार्ग इति यावत्, सवितुः सूर्यस्य उदये सति मालास्रस्तैः शिरः प्रदे

शादिनिहित माल्यात् परिभ्रष्टैः **विविधकुसुमैः** बहुविधपुष्पैः, **कुङ्कुमाक्तांह्रिचिह्नैः** कुङ्कुमाक्तानाम् कुङ्कुमरञ्जितानाम् अंह्रीणां चरणानां चिह्नैः लाञ्छनैः **क्षितितलगतेन** भूमिपृष्ठस्थितेन **अर्धजग्धेन** अर्धभुक्तावशिष्टेन **ताम्बूलेन** चूर्णखदिरादिपूरितनागरवल्लीदलवोटिकया ('ताम्बूलं-पूगपर्णचूर्णसयोगः' इत्यभिधा० चिन्ता० ४-२२१) **श्रवणपतितैः** कर्णाच्चुतैः **हेमाम्भोजैः** कनककमलैः, **भूषितैः** इत्यर्थं सज्जितैः **भूरिवासैः** बहुतरावास प्रदेशैश्च **सूच्यते** अनुमीयते।

विशेषः—रात्रौ कामिन्यः पुष्पमाल्यादिभूषिताः, कुङ्कुमारक्तचरणाः ताम्बूल भक्षणरता बहुभूषणभूषिताश्चाभिसरन्ति। तत्र तासां मदाधीनत्वात् क्वचित् माल्येभ्यः पुष्पाणि मार्गे पतन्ति, गतिश्रमजलार्द्रचरणानि चिह्नानि मार्गे लगन्तिता अर्धभिक्षितान्येव ताम्बूलानि नीरसबुद्ध्या निष्ठीवन्ति, तान्यपि मार्गे पतितानि भवन्ति, कर्णादिषु परिहितानि कनककमलाकाराणि भूषणान्यपि यत्र तत्र पतन्ति, यत्र तत्र मार्ग पार्श्वे एव रतियोग्यं वासस्थानमपि भूषयित्वा स्थापितमेतदर्थमुपभुज्य प्रातः परित्यज्यते इति तादृशं वासस्थानमपि च एतेन मार्गेण रात्रौ अभिसारिका गताः स्युरिति सूचयन्तीति भावः ॥ ७३ ॥

पुरीवैभववर्णनाय कामवृत्तान्तमाह—

यत्र स्त्रीणां प्रणयिषु हठादाक्षिपत्सु क्षपायां,
क्षौमं साक्षाद् मनसिजपराधीनतामागतेषु ।
नित्योद्योतानपि मणिमयान् प्राप्य दीप्रान् प्रदीपान्,
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरितश्चूर्णमुष्टिः ॥७४॥

अन्वयः—

'यत्र क्षपायाम् मनसिजपराधीनताम् आगतेषु प्रणयिषु साक्षात् क्षौमं हठात् आक्षिपत्सु ह्रीमूढानां स्त्रीणां नित्योद्योतान् मणिमयान् दीप्रान् प्रदीपान् प्राप्य अपि चूर्णमुष्टिः विफल प्रेरितः भवति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे क्षपायाम् रात्रौ मनसिजपराधीनताम् मनसिजस्य कामस्य पराधीनताम् आयत्तताम् आगतेषु प्राप्तेषु प्रणयिषु प्रियतमेषु साक्षात् शरीरा-व्यवहितं क्षौमं वस्त्रविशेषम् हठात् बलपूर्वकम् आक्षिपत्सु अपनयत्सु (सत्सु) ह्रीमूढानाम् लज्जया कर्तव्यविषये विमुग्धानाम् स्त्रीणां कामिनीनाम् नित्योद्योतान् सतत-प्रकाशान् मणिमयान् रत्नरचितान् दीप्रान् ज्वलतः प्रदीपान् प्रकृष्टदीपान् प्राप्य गत्वा अपि चूर्णमुष्टिः

सुगन्धिद्रव्यपरागमुष्टिः विफलप्रेरितः विफलं निरर्थकमेव प्रेरितः क्षिप्तः यथास्यात् तथा भवति जायते ।

विशेषः—रात्रौ सुरतसमये कामिनः क्रियानिवृत्त्यर्थं स्त्रीणां वस्त्रं यदा क्षिपन्ति तदा दीपसत्त्वे प्रकाशेऽङ्गविशेष-निरीक्षणे लज्जाया आधिक्यात् दीपनिर्वापणाय स्त्रियो यत्नं विदधति, तत्र च मणिमया एव दीपाः सन्ति, ते च नित्यो-द्योता इति कथमपि निर्वापयितुं न शक्या इत्यजानन्त्य इव स्त्रियस्तदुपरि चूर्णमुष्टिं क्षिपन्ति, किन्तु तत्र गताऽपि चूर्णमुष्टिः दीपनिर्वाणरूप फलाभावात् विफल प्रेरित एव भवति कामिन श्च यथेच्छमङ्गानि पश्यन्त्येवेति भावः ॥७४॥

अपरं च विशेषमाह—पाटलिपुत्रस्य—

यस्यां लोका विमलमनसः पूर्णकामाभिरामा,
रामाः कामं ललितगमनाः कामनारीसमानाः ।
वृक्षाः साक्षादतुलफलदाः कल्पवृक्षोपमेया,
नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥७५॥

अन्वयः—

'यस्यां लोकाः विमलमनसः, पूर्णकामाभिरामाः, रामाः कामं ललितगमनाः, कामनारीसमानाः, वृक्षाः अतुलफलदाः

साक्षात् कल्पवृक्षोपमेयाः, प्रदोषाः नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः भवन्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यस्यां पाटलिपुत्रनगर्यां लोकाः पुरुषाः सर्वे विमलमनसः निर्मलहृदयाः पूर्णकामाभिरामाः पूर्णकामाः प्राप्तसकलमनोरथाः अभिरामाः सुरूपाश्च (सन्ति) रामाः रमयन्तीति रामाः स्त्रियः कामम् अत्यन्तं ललितगमनाः सलीलगतिशालिन्यः कामनारीसमानाः कामस्य कन्दर्पस्य नार्याः स्त्रिया-रत्या समानाः सदृश्यः (सन्ति) वृक्षाः तरवः अतुलफलदाः अनुपमफलप्रदायिनः (अत एव) साक्षात् अव्यवहितरूपेण कल्पवृक्षोपमेया कल्पवृक्षैः मनः सङ्कल्पितफलदानसमर्थैः देवतरुभिः उपमेयाः उपमातुं योग्याः (सन्ति) प्रदोषाः रजनीमुखानि नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः नित्यज्योत्स्नाभिः सततप्रकाशैः मणिरत्नादिकृतैः प्रतिहतया निवारितया तमोवृत्त्या अन्धकारव्यापारेण हेतुना रम्याः मनोहराः भवन्ति ।

विशेषः—पाटलिपुत्रे सर्व एव जनाः प्राप्ताभिलाषाः सौन्दर्यशालिनः सन्ति । स्त्रियोऽपि रतिसदृश्यो मत्तगामिन्यः, फलवृक्षाश्च परिपूर्णफलाढ्याः सन्ति । मण्यादिप्रकाशस्य सर्वदा वर्तमानत्वेन रात्र्यारम्भसमयेऽपि तमोऽभावेन स

समयोऽन्यत्र भयप्रदोऽपि पाटलिपुत्रे रम्य एव प्रतिभातीति भावः ॥ ७५ ॥

पुनः पुरीमेव विशेषयति—

यस्यामन्तः सुकृतरसिकाः पात्रदानप्रवीणा,
एनोहोना विततविलसत् कीर्तयः सन्ति सन्तः ।
वारस्त्रीभिः सह सुमुदिताः काममग्नाश्च कामं,
बद्ध्वा यानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥७६॥

अन्वयः—

'यस्याम् अन्तःसुकृतरसिकाः पात्रदानप्रवीणाः, एनोहीनाः विततविलसत्कीर्त्तयः सन्तः सन्ति। समुदिताः काममग्नाः कामिनः च यानं बद्ध्वा वारस्त्रीभिः सह बहिरुपवनं निर्विशन्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यस्यां पुरि अन्तःसुकृतरसिकाः अन्तःसुकृतस्य आध्यात्मिक पुण्यस्य अथवा प्रकटधर्मस्य रसिकाः अनुरागिणः पात्रदानप्रवीणाः पात्रेषु सत्पात्रेषु यद् दानं वितरणं तत्र प्रवीणाः निपुणाः, एनोहीनाः एनोभिः पापैः हीनाः रहिता विततविलसत्कीर्त्तयः वितता विस्तृता

विलसन्तो शोभमाना च कीर्त्तिर्येषां तादृशाः सन्तः सज्जनाः सन्ति । सुमुदिताः सुप्रसन्नाः काममग्नाः मदनव्यापार एव मततासक्ताः कामिनः कामरसिकाः यानं वाहनं रथादि बद्ध्वा उपवनाद् बहिरेवावरोध्य, वारस्त्रीभिः वाराङ्गनाभिः सह साकं बहिरुपवनम् पुराद् बाह्यमुद्यानम् निर्विशन्ति कामक्रीडादिभिरुपयुञ्जन्ति ।

विशेषः—पाटलिपुत्रे तादृशाः सज्जना अपि सन्ति ये प्रच्छन्नरूपेणैव न तु लोके स्वख्यातये बाह्यरूपेण-सत्पात्रेषु दानमाचरन्तो निष्पापाः अनेकदेवागारारामादिकीर्त्तियुक्ता श्च सन्ति । कामिनोऽपि तादृशाः सन्ति ये सत्र व्यापारविरताः यानेन बहिरुपवने गत्वा, यानं च बहिरेवावरुध्य, वारस्त्रीभिः सह विलासे मग्ना स्तिष्ठन्ति ॥ ७६ ॥

पुरीमेव वर्णयति—

गच्छंस्तूर्णं नभसि तरणिः शङ्कते नित्यमेवं,
सौधेष्वेव स्खलतु मम मा स्यन्दनोऽभ्रंलिहेषु ।
मेघा यस्यामतिगुरुगृहैः प्राप्य संघट्टमाराद्,
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥७७॥

अन्वयः—

'यस्याम्, नभसि गच्छन् तरणिः नित्यम् एषु अभ्रंलिहेषु सौधेषु मम स्यन्दनः मा स्खलतु एवम् शङ्कते, मेघाः अतिगुरुगृहैः आरात् संघट्टं प्राप्य जर्जराः (सन्तः) धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः निष्पतन्ति' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

यस्यां पुरि नभसि आकाशे गच्छन् रथेनसंचरन् तरणिः सूर्यः नित्यम् प्रतिदिनम्, एषु अग्रतो दृश्य मानेषु अभ्रंलिहेषु अभ्राणि मेघान् लिहन्ति स्पृशन्ति इत्यभ्रंलिहाः "वहाभ्राल्लिहः (५-१-१२३)" इति खश्, खित्यनव्यया-रुषो० (३-२-१११)" इति मोऽन्तादेशः, तेषु सौधेषु सुधया निर्मिताः सौधाः प्रासादाः तेषु मम मे स्यन्दन रथः मा नैव स्खलतु संघट्टताम्-एवम् पूर्वोक्तरूपेण शङ्कते संदेग्धि। मेघाः घनाः अतिगुरुगृहैः बहुविशाल-प्रासादैः आराद् दूरतः एव संघट्टं संघर्षं प्राप्य लब्ध्वा जर्जराः शकलिताः सन्तः धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः धूमोद्गाराणाम् वाष्पनिर्गमानाम् अनुकृतौ अनुकरणे निपुणाः चतुराः निष्पतन्ति निर्गच्छन्ति।

विशेषः—पाटलिपुत्रस्य प्रासादा अत्युच्चा येन सूर्यस्यापि शङ्का जायते यत् मम रथः गृहेष्वेषु संघट्टं मा गच्छेदिति, मेघाश्च संघट्टमाप्यैव तद्गृहगवाक्षादि मार्गेण धूमा इव बहि र्भवन्ति। अतिशयोक्त्यलङ्कारः ॥ ७७ ॥

अन्यमपि विशेषमाह—

यान्त्यो व्योम्नि त्रिदशललना वीक्ष्य यासां स्वरूपं,
सर्वं गर्वं मनसि रचितं चारुतायास्त्यजन्ति ।
मुग्धा दुग्धोपचितवपुषः कुट्टिमेष्वस्तखेदं,
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥७८॥

अन्वयः—

यत्र व्योम्नि यान्त्यः त्रिदशललनाः यासां स्वरूपं वीक्ष्य मनसि निहितं चारुताया गर्वं त्यजन्ति (ताः) दुग्धोपचितवपुषः अमरप्रार्थिताः मुग्धाः कन्याः कुट्टिमेषु मणिभिः अस्तखेदं संक्रीडन्ते ॥

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे व्योम्नि आकाशमार्गे यान्त्यः गच्छन्त्यः त्रिदशललनाः "त्रिर्दशेत्यर्थे बहुव्रीहौ प्रमाणी सङ्ख्याड्डः (७-३-१२८)" इति डे त्रिदश शब्दो निष्पद्यते ।

अस्य चार्थोऽनेकप्रकारेणानेकत्र वर्णितः अभिधानचिन्तामणिटीकायां च तिस्रो दशात्रयोऽवस्था येषां ते त्रिदशाः त्रिंशद्वर्षा मनुष्ययुवानः, त्रिदशा इव त्रिदशा इत्यपि व्युत्पत्तिर्दर्शिता । तथा च सर्वदा यौवनशालिनः इति फलति ते त्रिदशा देवाः तेषां ललनाः स्त्रियः **यासां** पाटलीपुत्रनगरी कन्यानां **स्वरूप वीक्ष्य** अवलोक्य **मनसि** स्वचित्ते निहितं स्थितं **चारुतायाः** सौन्दर्यस्य **गर्वम्** अभिमानं **त्यजन्ति** परिहरन्ति, (ताः) **दुग्धोऽपचितवपुषः** दुग्धेन क्षीरेण उपचितं वृद्धिं प्राप्तं वपुः शरीरं यासां ताः **अमरप्रार्थिताः** अमरैः देवैरपि प्रार्थिता अभिलषिताः **मुग्धाः** ऋजवः **कन्याः** बालिकाः **कुट्टिमेषु** प्रासादपृष्ठेषु **मणिभिः** रत्नैः (गुटिकादि स्थानीयैः) **अस्तखेदं** अखिन्नं यथा स्यात् तथा **संक्रीडन्ते खेलन्ति** ।

विशेषः—देवाङ्गनानामपि रूपगर्वनाशिकाः, देवैरपि प्राप्तुमभिलषिता एतन्नगरबालिकाः प्रासादाग्रकुट्टिमेषु निर्व्यग्राः सततं क्रीडन्ति । 'अन्नानुरूपं शरीरम्' इति प्रसिद्धेः दुग्धोपचितत्वेनासां वपुरपि दुग्धोज्ज्वलमिति सूचितम् ॥ ७८ ॥

पुरीमेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—

धर्मस्वेदं सुरतजनितं योषितां यत्र रात्रौ,
जालायातैः स्वगृहवलभीमध्यबद्धस्थितीनाम् ।

सारैस्ताराधिपतिकिरणैश्च्योतिता द्योतिताशै-
र्व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥७१॥

अन्वयः—

'यत्र रात्रौ स्वगृहवलभीमध्यबद्धस्थितीनां योषितां सुरतजनितं घर्मस्वेदं सारैः द्योतिताशैः ताराधिपतिकिरणैः जालायातैः च्योतिताः स्फुटजललवस्यन्दिनः चन्द्रकान्ताः व्यालुम्पन्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे **रात्रौ** निशि **स्वगृहवलभीमध्यबद्धस्थितीनां** स्वगृहस्य निजागारस्य वलम्या अट्टालिकाया मध्ये बद्धा स्थिरीकृताः स्थितिः वासो याभिः तासाम् **योषितां** स्त्रीणाम् **सुरतजनितं** कामक्रीडासमुद्भूतम् **घर्मस्वेदं** ऊष्मजनितदेहजलं **सारैः** सारभूतैः **द्योतिताशैः** प्रकाशित दिग्भिः **ताराधिपतिकिरणैः** ताराधिपतेः चन्द्रस्य किरणैः रश्मिभिः **जालायातैः** गवाक्षमार्गप्रविष्टैः **च्योतिताः** चरिताः **स्फुटजललवस्यन्दिनः** स्फुटं प्रकटं यथा स्यात् तथा जललवान् तोयकिरणान् स्यन्दन्ते क्षरन्ति इति तच्छीलाः **चन्द्रकान्ताः** चन्द्रकान्तनामकमणयः **व्यालुम्पन्ति** नाशयन्ति ।

विशेषः—यत्र गृहेषु घटिताः चन्द्रकान्तमणयः वलभीस्थित गवाक्षमार्गायातैः चन्द्रमरीचिभिर्जलं स्रावयन्ति, तेन जलेन च शीतलेन रात्रौ रतिक्रीडाजनितं योषितां घर्मजलं नश्यतीति भावः। एतेन तत्रत्य गृहाणां महार्हमणियुक्तत्वं द्योतितमिति पुरस्य समृद्धिर्वर्णिता भवति ॥ ७६ ॥

तत्रत्य धनिनां त्यागस्य फलं दर्शयति—

काले वर्षन्नवनिवलयं सस्यपूर्णं वितन्वन्,
वाञ्छातुल्यं दिशति सलिलं यत्र धाराधरोऽपि।
त्यागो यस्यां धनिभिरनिशं दीयमानोऽर्थिनांद्रा-
गेकं सूते सकलमबलाऽऽमराडनं कल्पवृत्तः॥८०॥

अन्वयः—

'यत्र काले वर्षन् अवनिवलयं सस्यपूर्णं वितन्वन् धाराधरः अपि वाञ्छातुल्यं सलिलं दिशति। यस्याम्, धनिभिः अनिशं दीयमानः अर्थिनां कल्पवृत्तः त्यागः एकं सकलम् अबला आमण्डनम् द्राक् सूते' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

यत्र पाटलिपुत्रे काले कृष्युपयुक्तसमये वर्षन् वर्षणं कुर्वन् अवनिवलयं भूमण्डलम् सस्यपूर्णं धान्यसमृद्धं

वितन्वन् रचयन् धाराधरः मेघः अपि वाञ्छातुल्यम् इच्छानुकूलं सलिलं जलम् दिशति ददाति। धनिभिः आढ्यैः अनिशम् सततं दीयमानः क्रियमाणः अर्थिनां याचकानां (कृते) कल्पवृक्षः सङ्कल्पितफलप्रददेवतरुरूपः त्यागः दानम् एकम् अद्वितीयम् सकलं सम्पूर्णम् अबला-ऽऽमण्डनं अबलानां दुर्गतानां जनानां आमण्डनं समन्तात् परिपोषकम् द्राक् झटिति सूते सम्पादयति।

विशेषः—यत्र समये वृष्ट्या सस्यपूर्तिर्भवति। धनिनश्च सतत त्यागशीलाः सन्ति, येन याचकानां सर्वेष्टासिद्धिः भवति। अत्र मेघदूते 'एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः' इत्थं पाठोऽस्ति। एकः कल्पवृक्षः सकलम् अबलानां स्त्रीणां मण्डनं शोभाधायकं वस्तु सूते इत्यर्थकः सः। अत्र च प्रकरणवशादर्थान्तरं कल्पितमिति वरम्। किन्तु 'एकः' इति प्रथमान्तस्य स्थाने द्वितीयान्तः पाठोऽबला-मण्डनस्य विशेषणतया प्रयुक्त इति न युक्तं प्रतिभाति। एकः इति प्रथमान्तमेव यदि 'त्यागः' इत्यस्य विशेषणतया स्थाप्येत तर्हि अर्थावबोधेऽपि सौकर्यं, मेघदूतीय पाठ रक्षाऽपि च कृता भवेदिति विचारणीयं सूरिभिः। प्रायो लेखकप्रमादा-देवायं भेद इति प्रतीयते। टिप्पणीकर्त्राऽपि 'एकम्' इति पाठं स्वीकृत्यैव व्याख्यातमित्यस्माभिरपि तथैव पाठः स्थापितो व्याख्यात श्चेति ज्ञेयम्॥ ८०॥

अथ कर्तव्यं निरूपयन्ती प्रकृतपुरीवर्णनादिकं समापयति—

तिष्ठन्नस्यां पुरि विजयजं नाथ ! सौख्यं भज त्वं,
कुर्वन् धर्मं भवति सफलं येन जन्मद्वयं ते।
हित्वा चापं युवतिषु चिरं यत्र कामोऽपि तस्थौ,
तस्यारम्भश्चतुरवनितालोचनैरेव सिद्धः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—

हे नाथ ! अस्यां पुरि तिष्ठन्, धर्मं कुर्वन् त्वं विजयजं सौख्यं भज येन ते जन्मद्वयं सफलं भवति। यत्र चापं हित्वा कामः अपि युवतिषु तस्थौ, तस्य आरम्भः चतुरवनितालोचनैः एव सिद्धः' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे नाथ ! स्वामिन् ! अस्यां पूर्ववर्णितरूपायां पाटलिपुत्रनाम्नि पुरि नगर्याम् तिष्ठन् स्थितिं कुर्वन्, धर्मम् सुकृतम् कुर्वन् आचरन् विजयजं लौकिक बाह्यशत्रुपराजयोद्भूतम् रागद्वेषाद्यभ्यन्तरशत्रुपराजयोद्भूतं च सौख्यम् ऐहिकं स्रक्चन्दनवनिताद्युपभोगं पारलौकिकं स्वर्गोपभोगं च भज प्राप्नुहि, येन प्राप्तेन ते तव जन्मद्वयं ऐहिकं जन्म, अग्रिमं च जन्म सफलं सार्थकं भवति। यत्र पाटलिपुत्रे

चापं धनुः हित्वा परित्यज्य कामः मदनः अपि किन्तु युवतिषु तरुणीषु तस्थौ आश्रितः (यतः) तस्य कामस्य आरम्भ कामिजनवशीकरणोद्योगः चतुरवनितालोचनैः चतुराणां कामकलानिपुणानां वनितानां कामिनीनां लोचनैः नेत्रैः एव सिद्धः सम्पन्नः ।

विशेषः—अर्थधर्मकामेति पुरुषार्थत्रयोपेतायां पाटलिपुत्र नगर्यां निवसता भवता धर्माचरणपरेण जन्मद्वयमपि सफलीकरणीयम्, प्रव्रजता च केवलं परं जन्मैव सफलतां प्रापणीयमिति ततोऽत्रैव स्थितिर्युक्ता । अस्यां च नगर्यां स्वायुधं विहाय कामोऽपि स्त्रीष्वेव स्वकीयां स्थितिं कुरुते । तस्य च कार्यं युवजनमोहनादिकं स्त्रीणां कटाक्षैरेव सिध्यतीति सोऽप्यत्र स्वसाफल्यमनायासेनैव भजत इति भावः ॥८१॥

अथ श्रीस्थूलभद्रः प्रत्युत्तरयति—

निर्यद्बाष्पं वच इति चिरं प्रोच्य तस्यां स्थितायां,
सोऽवोचत् तामभजममलं तन्व्यहं जैनधर्मम् ।
स्वर्गोऽप्यस्माद् मम स न मतश्चिन्तितं यत्र दत्ते,
हस्तप्राप्यस्तबक न मितो बालमन्दारवृक्षः ॥ ८२ ॥

अन्वय—

'निर्यद्‌बाष्पं इति वचः चिरं प्रोच्य तस्यां स्थितायाम् स अवोचत्, हे तन्वि ! अहम् अमलं जैनधर्मम् आश्रितः, मम स स्वर्गः अपि अस्मात् न मतः यत्र हस्त प्राप्य स्तबक नमितः बालमन्दारवृक्षः चिन्तितं दत्ते' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

निर्यद्वाष्पं निर्यत् निर्गच्छद् बाष्पं नेत्रसलिलं यत्र तत् यथा स्यात् तथा इति उक्तप्रकारेण वचः वचनं प्रोच्य प्रकर्षेणोक्त्वा स्थितायाम् तूष्णीं भूतायां तस्यां कोशायाम् सः श्री स्थूलभद्रः अवोचत् अकथयत्, किं तद् इत्याह—हे तन्वि ! दुर्बले ! कृशे ! वा अहम् स्थूलभद्रः अमलम् निर्मलम् जैनधर्मं जयन्ति रागद्वेषादीन् इति जिनाः तीर्थङ्कराः तेषाम् धर्मम् आचारम् अभजम् आश्रयम् मम सः प्रसिद्धः स्वर्गः देवलोकः अपि अस्मात् जैनधर्मापेक्षया न मतः नेष्टः, यत्र स्वर्गे हस्तप्राप्यस्तबकनमितः हस्तप्राप्यैः करणैव लभ्यैः स्तबकैः पुष्पफलवृन्तैः नमितः नम्रीभूतः बालमन्दारवृक्षः बालोऽल्पतया मन्दारवृक्षः कल्पवृक्षः चिन्तितम् अभिलषितं सकलं वस्तु दत्ते समर्पयति।

विशेषः—तस्या वचः सर्वं श्रुत्वा स्वनिश्चय सारभूतं वाक्यं श्रीस्थूलभद्र उवाच। तन्वीति विशेषणेन आमन्त्रणेन

वा यथात्वं दुर्बला कृशा वा तथा तव मति रपि तथैवेति ध्वनितम् । अहं तु तादृशं जैनधर्मं श्रितोऽस्मि यदपेक्षया सर्वाभिष्टप्रदकल्पवृक्ष शोभितः स्वर्गोऽपि मह्य न रोचते किमुतेऽयं पाटलिपुत्रनगरी तदुपभोगो वेति तात्पर्यम् ॥८२॥

गुरुपदेशस्मरणादपि नाहं तव वचोऽनुसरिष्यामीत्याह (युग्मेन)—

कृत्याकृत्यं गणयति भवान् हन्त ! येषां कृते नो,
दृष्ट्वा हृष्यत्यनुदिनमलं खिद्यते यानऽदृष्ट्वा ।
प्रान्तं प्राप्तं स्वजननिचयास्तेऽप्यहो ! सत्सरोवद्,
न व्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥८३॥

निःसङ्गानां गुणफणभृतां यो मया श्रीगुरूणा-
मेवं मुग्धे ! भवयहरोऽश्रावि पुरायोपदेशः ।
हारेणेव द्युतिततिभृताऽप्यत्र शश्वद् मनोऽन्तः,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥८४॥

(युग्मम्)

अन्वयः—

'भवान् येषां कृते कृत्याकृत्यं नो गणयति हन्त ! यान् दृष्ट्वा अनुदिनं हृष्यति, (यान्) अदृष्ट्वा अलं खिद्यते, व्यपगत-

शुचः ते स्वजननिचया अपि हंसा सत्सरोवत् प्रान्तं प्राप्तं प्रेक्ष्य अपि न ध्यास्यान्ति' इत्यन्वयः ।

हे मुग्धे ! एवं गुणकणभृतां निःसङ्गानां श्रीगुरूणां भवभयहरः यः पुण्योपदेशः मया अश्रावि, अत्र द्युतितति भृता हारेण उपान्तस्फुरिततडितम् इव त्वां प्रेक्ष्य अपि मनोऽन्तः तम् एव स्मरामि' इत्यन्वय श्च ।

व्याख्या—

भवान् स्थूलभद्रः येषां स्वजननिचयानां कृते कृत्याकृत्य कर्तव्याकर्तव्यं नो नैव गणयति विचारयति हन्त ! इति खेदः, यान् स्वजननिचयान् दृष्ट्वा अवलोक्य अनुदिनं सर्वदा हृष्यति प्रसीदति, यान् अदृष्ट्वा अनवलोक्य अलम् अत्यर्थं खिद्यते दूयते, व्यपगतशुचः विच्छेदात् स्वार्थसाधकत्वाभावाच्च व्यपगता नष्टा शुक् भवद्विषयकं दुःखं येषां ते, ते पूर्ववर्णिताः स्वजननिचयाः स्वबन्धुवर्गाः अपि किमुतान्ये सुहृदादयः हंसाः पक्षिविशेषाः (व्यपगतशुचः, अतिवाहित ग्रीष्मकालाः) सत्सरोवत् स्वच्छह्रदवत्, प्रान्तं समीपं प्राप्तम् आयातम् त्वां भवन्तम् प्रेक्ष्य अवलोक्य अपि न ध्यास्यन्ति न स्मरिष्यन्ति ।

हे मुग्धे ! सरले ! एवम् उक्तरूपः गुणफणभृताम् गुणा एव फणाः सर्पमस्तकानि बिभ्रति धारयन्ति इति तेषां (अत्र 'गुणगणभृताम् इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति गुणानां फणैः सह साम्याभावात् तादृशरूपकस्यायोग्यत्वात्) निःसङ्गानां सांसारिकसम्पर्कशून्यानां श्रीगुरूणां श्रिया युक्तानां धर्मोपदेशकानाम् भवभयहरः सांसारिकभीति-निवारकः यः पूर्वोक्तरूपः पुण्योपदेशः पुण्यजनकः उपदेशः मया स्थूलभद्रेण अश्रावि श्रुतः अत्र ततो दूरं तव समीपे स्थितः अपि, द्युतिततिभृता कान्तिसमूहधारिणा हारेण मुक्तामालया उपान्तस्फुरिततडितं उपान्ते समीपे स्फुरिता चञ्चला तडित् विद्युत् यस्याः तामिव त्वां भवतीं प्रेक्ष्य अवलोक्य अपि, मनोऽन्तः हृदयमध्ये तम् उक्तमुपदेशम् एव केवलं स्मरामि ध्यायामि ।

विशेषः—श्रीगुरुभिरुपदिष्टं यत्—'येषां स्वजनानां कृते कर्तव्यमकर्तव्यं वा सर्वं त्वया कृतम्, याननुदिनं पश्यन्नेव हृष्टोऽभूः, अपश्यंश्च दुःखितोऽभूः एतादृशा अपि बन्धवः स्वार्थसिद्धिमदृष्ट्वा त्वां समीपस्थितमपि न परिचेष्यान्ति, दूरे स्नेहप्रदर्शनम्, स्वागत सत्कारौ चेति ।'

अयं चोपदेशः सांसारिक दुःखनिवारकः, यतोऽनेन सर्वेषां स्वार्थमूलकः स्नेह इति प्रमाणितं भवति, ततस्तेभ्यो मनो विरज्यति, शुक्लध्याने चानुरज्यति। अत्र तव समीपे स्थितोऽपि, हारादिभिरलङ्कृतां त्वां दृष्ट्वापि च तमेवोपदेशं स्मरामि, इति न तवोक्तौ मम श्रद्धा। अतः पुनः संसारे न सक्तो भविष्यामि। 'व्यपगतशुचः हंसाः सत्सरोवत्' यथा ग्रीष्मऋतु सरः सेवनेन सुखमतिवाह्य-ग्रीष्मे गते हंसाः तं त्यजन्ति, तथैव बन्धवोऽपि स्वार्थसिद्धेरन्तरं प्रियतया ज्ञातमपि जनं त्यजन्ति इति तात्पर्यम्। उपमाऽलङ्कारः—द्युतिततिभृता हारेण-उपान्तस्फुरिततडितमिवेत्यत्र। 'हंसाः सत्सरोवत्' इत्यत्र दृष्टान्तालङ्कारः॥ ८३–८४॥

स्वकृतं कामविजयमुद्घोषयति—

जिग्ये कामः सुतनु! स मया शीलमासाद्य यस्मात्,
संज्ञाहीनौ रसकुरुबकावप्यहो! स्तः सरागौ।
नार्या एकोऽभिलषति भृश दर्शनं मण्डिताया,
वाञ्छत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः॥८५॥

अन्वयः—

हे सुतनु! मया शीलम् आसाद्य स कामः जिग्ये यस्मात् संज्ञाहीनौ रसकुरुबकौ अपि सरागौ स्तः अहो!,

एकः मण्डितायाः नार्याः दर्शनम् भृशम् इच्छति, अन्यः दोहदच्छद्मना अस्याः वदनमदिरां वाञ्छति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सुतनु ! सुदेहे ! सुकृशशरीरे ! वा मया स्थूलभद्रेण शीलम् ब्रह्मचर्यं आसाद्य प्राप्य स वक्ष्यमाण गुणविशिष्ट कामः कन्दर्पः जिग्ये जितः यस्माद् कन्दर्पाद् हेतोः संज्ञाहीनौ अचेतनौ रसकुरुबकौ रसः पारदः कुरुबकः पीतझिण्टी समाख्यः वृक्षविशेष श्च अपि किमुत-सचेतनः सरागौ साभिलाषौ स्तः भवतः अहो ! इत्याश्चर्यम्, एकः रसः मण्डितायाः भूपितायाः नार्याः स्त्रियाः दर्शनम् अवलोकनम् इच्छति कामयते, अन्यः कुरुबकः दोहदच्छद्मना गर्भिण्यभिलाषव्याजेन अस्याः नार्या वदनमदिरां मुखास्थितां सुराम् वाञ्छति इच्छति ।

विशेषः—कामो यद्यपि अचेतनमपि वशीकरोति, तस्मादेव पारदो भूपितां नारीं दृष्ट्वा उच्छलति, कुरुबक स्तस्या मुखमदिरागण्डूषं प्राप्य पुष्यति । किन्तु मया शीलप्राप्त्या स कामो जित इति न मे मनसि त्वदवलोकन त्वत्कथाश्रवणादित कामप्रादुर्भाव इति भावः ॥ ८५ ॥

पुनरपि स्वस्य नीरागतामेव प्रकटयति—

नीरागं मे समजनि मनो ज्ञाततत्त्वस्वरूपं,
तेनेदानीं च विषयरसो बाधते कुत्रचिन्माम् ।
पश्याम्येनामपि वनसमां चित्रशालां खलूच्चै-
र्यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः ॥८६॥

अन्वयः—

'ज्ञाततत्त्वस्वरूपं मे मनः नीरागं समजनि, तेन इदानीम् कुत्रचित् विषयरसः मां न बाधते, एनां चित्रशालाम् अपि वनसमां पश्यामि खलु, याम् दिवसविगमे वः सुहृद् नीलकण्ठः उच्चैः अध्यास्ते ! इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

ज्ञाततत्त्वस्वरूपम् ज्ञातं विदितम् तत्त्वस्य तत् तद्विषययाथार्थ्यस्य स्वरूपं येन तादृशम् **मे** मम **मनः** चित्तं **समजनि** सम्पन्नम्, तेन कारणे न **इदानीम्** सम्प्रति **कुत्रचिद्** कास्मिन्नपि विषये **विषयरसः** विषयेषु रागः **मां** स्थूलभद्रं **न बाधते** नाकर्षति। **एनाम्** अग्रे स्थिताम् **चित्रशालाम्** चित्राम् आश्चर्यजनिकां नानाविधचित्रादिभिरलङ्कृतां वा शालां गृहम् **वनसमाम्** अरण्यसदृशीं **पश्यामि** दृष्ट्वाऽवधारयामि, **यां** चित्रशालाम् **वः** युष्माकं **सुहृत्**

प्रियः नीलकण्ठः मयूरः दिवसविगमे दिनान्ते सायङ्काले उच्चैः उपरिभागे अध्यास्ते अधितिष्ठति ।

विशेषः—सरागे हि चित्ते विषयास्वादाभिलाषा जायते चित्रशालायां वने वा समदर्शिनो मनसि का विषयाभिलाषा स्यादिति तात्पर्यम् । रागी च तावदेव तिष्ठति यावत् वस्तु-तत्त्वं न परिचीयते ज्ञाततत्त्वे च कः संसारः ॥ ८६ ॥

शरीरस्य यौवनापगमे निःश्रीकताकथनेनानित्यतां प्रकटयति—

यत्तारुण्ये सति वपुरहो ! विभ्रमं भूरि दत्ते,
पुष्टं मुग्धे ! सरसमधुराहारयोगेण शश्वत् ।
अन्यादृक् स्यात् तदपि च गते यौवने देहभाजां,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥८७॥

अन्वयः—

'हे मुग्धे ! सरसमधुराहारयोगेण शश्वत् पुष्टं यद् वपुः तारुण्ये सति भूरि विभ्रमं दत्ते अहो ! तद् अपि देहभाजां यौवने गते अन्यादृक् स्यात्; सूर्यापाये कमलं स्वाम् अभिख्याम् न खलु पुष्यति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे मुग्धे ! सरले ! सरसमधुराहारयोगेण सरसा-नाम् आस्वादवताम् रसयुक्तानां वा मधुराणां मिष्टानाम्

आहाराणां भोजनानां योगेन उपयोगेन शश्वत् सर्वदा पुष्टं वृद्धिं नीतम् यद् वपुः शरीरं, तारुण्ये यौवने सति विद्यमाने भूरि बहुतमं विभ्रमं विलासं दत्ते अर्पयति, तद् अपि शरीरम् देहभाजां प्राणिनां यौवने तारुण्ये गते अतिक्रान्ते (सति) अन्यादृक् विसदृशं स्यात् (एतदर्थान्तर-न्यासोपन्यासेन समर्थयति) सूर्यापाये भास्करेऽस्तं-गते सति कमलं पद्मं स्वाम् निजाम् अभिख्याम् शोभाम् न खलु नैव पुष्यति धारयति।

विशेष—बहुतरानुकूलभोजनादिपरिवर्धितमपीदं शरीरं यौवनं यादृशं विलासादिकं प्रकटयति तादृशं यौवनापगमे न प्रकटयति, कमलं हि सूर्यसन्निधाने एव स्वीयां शोभां धारयति, सूर्यास्ते सति च म्लायत एव। तथा चास्थिरावस्थं शरीरमेतदिति विचिन्त्य मे भोगेच्छा न जायत इति भावः। अत्र कमलरूप विशेषोन्यासेन कारणवशाज्जातं वस्तु कारणाप गमे नश्यतीति सामान्योऽर्थः समर्थित इत्यर्थान्तर न्यासो-ऽलङ्कारः॥ ८७॥

एवं च संसारानित्यतां जानतो मे मोहनाय तव चेष्टा वृथैवेत्याह—

मत्वाऽनित्यं जगदिति मनो मे विलग्नं जिनोक्ते,
धर्मे शर्माभिलषति परं शाश्वतं शुद्धचित्ते!।

मुग्धे ! स्निग्धां रचयसि मुधा मामुदोच्य स्वकीयां,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥८८॥

अन्वयः—

'हे शुद्धचित्ते ! इति जगत् अनित्यं मत्वा जिनोक्ते धर्मे विलग्नं मे मनः शाश्वतं परं शर्म अभिलषति । हे मुग्धे ! माम् उदीक्ष्य स्वकीयां स्निग्धां खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् मुधा रचयसि' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **शुद्धचित्ते** ! शुद्धं मया निर्विकारेण पुंसा सह संभाषणात् पवित्रं चित्तं मनो यस्याः तदामन्त्रणम्, **इति** पूर्वोक्तप्राकारेण **जगत्** संसारम् **अनित्यं** विनाशि **मत्त्वा** ज्ञात्त्वा **जिनोक्ते** जिनैः तीर्थङ्करैः उक्ते कथिते **धर्मे** श्रेयः साधनोपाये **विलग्नं** निरतं **मे** मम **मनः** चित्तम् **शाश्वतम्** नित्यं **परम्** उत्कृष्टं **शर्म** कल्याणम् **अभिलषति** वाञ्छति [न तु क्षणभङ्गुरं लौकिक सुखमिति भावः] (अतः) हे **मुग्धे** ! सरले ! **माम्** स्थूलभद्रम् **उदीक्ष्य** उच्चैरवलोक्य, **स्वकीयां** निजां **खद्योतालीविलसित-निभां** खद्योतालीनाम् ज्योतिरिङ्गणसमूहानाम् विलसितेन निभा तुल्या ताम् **विद्युदुन्मेष दृष्टिम्** विद्युताम् तडिताम्

उन्मेषवत् स्फुरणवत् उन्मेषः उन्मीलनं यत्र तादृशीं दृष्टिं विलोकनम् मुधा वृथा रचयसि करोषि ।

विशेषः—एतावत् कालं मया सह सम्भाषणात् त्वापि चित्तं शुद्धं भवेदिति सम्भाव्यते ततश्च धर्मनिरतस्य मे चेतसि तव विलोकनादिभिः कोऽपि विकारो न स्यादिति तवैवं भावान्तरेण विलोकनं नोचितम्, अतो वृथैव ते चेष्टेति हृदयम् । अत्र यथा खद्योतानां विलासेन न कश्चिदर्थः प्रकाशादिः सिध्यति अतः स वृथैव भवति तथैव तव विलोकनमपी त्युपमायाः विवक्षितत्वेनोपमाऽलङ्कारः । एतत् पद्य-चतुर्थचरण मेघदूते मेघस्य विद्युदुन्मेष एव दृष्टिरिति रूपकं विवक्षितम्, इह च तत् सदृशी दृष्टिरिति दृष्टेश्चाञ्चल्यं विद्युदुन्मेषवदिति विवक्षितमिति तत्राप्युपमैवालङ्कारः ॥८८॥

पुनरपि स्वस्य वीतरागत्वं द्रढयति—

नारी यस्मिन्नमृतसदृशी मे बभूवाद्य यावद्,
रागग्रस्ते मनसि मदनव्यालविध्वस्तसंज्ञे ।
ध्वस्ते रागे गुरुभिरभवत् क्ष्वेडवत् साऽप्यनिष्टा
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्ये व धातुः ॥८९॥

अन्वयः—

'मदनव्यालविध्वस्त संज्ञे रागग्रस्ते यस्मिन् मे मनसि अद्य यावत् नारी अमृत सदृशी बभूव, गुरुभिः रागे ध्वस्ते

(सति) या तत्र युवति विषये धातुः आद्या सृष्टिः इव स्यात् सा अपि क्ष्वेडवत् अनिष्टा अभवत्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

मदनव्यालविध्वस्तसंज्ञे मदनः काम एव व्यालः सर्पः तेन विध्वस्ता नष्टा संज्ञा हिताहितज्ञानशक्तिः यस्य तस्मिन्, **रागग्रस्ते** रागेण विषयाभिलाषेण ग्रस्तेऽभिभूते यस्मिन् **मे** मम **मनसि** चित्ते **अद्य यावत्** इतः कालात् पूर्वं **नारी** स्त्री **अमृतसदृशी** पीयूषतुल्या **बभूव** आसीत्, **गुरुभिः** ज्ञानोपदेशकैः **रागे** विषयासक्तौ **ध्वस्ते** दूरीकृते (सति) **या** स्त्री **तत्र युवतिविषये** तस्मिन् तरुणी समाजे **धातुः** ब्रह्मणः **आद्या** प्रथमा सर्वश्रेष्ठेति यावत् **इव स्यात्** भवेत् **सा अपि क्ष्वेडवत्** विषवत् **अनिष्टा** अहितकारी **अभवत्** जाता ।

विशेषः—पूर्वमहमतिरागवान् नारीषु परमासक्त आसम् । किन्तु गुरुकृपया ज्ञानोपदेशेन राग एव विनष्ट इति स्त्र्यासक्तिकारणाभावात् सर्वश्रेष्ठाऽपि नारी विषतुल्यं परिहार्या जातेति न त्वदीयोऽभिलाषो मया पूरयितुं शक्यत इति ज्ञात्वा स्वीयां मायां परिहरेति भावः ॥ ८९ ॥

पुनरपि स्वशील मेवाह—

अज्ञानं मे सपदि गलितं मोहमूर्च्छाऽप्यनेश-
ज्जातं चित्तं सुतनु ! मम तन्निर्विकारं क्षणेन ।
स्वस्रा मृत्योरिव हि जरसा ग्रस्यमानां तनुं स्वां,
मन्ये जातां तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् ॥१०॥

अन्वयः--

'मे अज्ञानं सपदि गलितं, मोहमूर्च्छा अपि अनेशत् हे सुतनु ! मम तत् चित्तं क्षणेन निर्विकारं जातम् । हि मृत्योः स्वस्रा इव जरसा ग्रस्यमानां स्वां तनुं तुहिनमथितां पद्मिनीं वा अन्य रूपां जातां मन्ये' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

मे मम स्थूलभद्रस्य **अज्ञानं** वस्तुतत्त्वाच्छादकं तमः **सपदि** शीघ्रं **गलितं** विशीर्णम्, **मोहनिद्रा** मोहः तत्त्वातत्त्वविवेकाक्षमत्वम् एव निद्रा सुप्तिः सा **अपि** **अनेशत्** नाशं गता, हे **सुतनु** ! सुदेहे कोशे ! **मम** **स्थूलभद्रस्य तत्** पूर्वोक्तम् अज्ञानशून्यं विगलितमोहं च **चित्तं** मनः **क्षणेन** झटित्येव **निर्विकारं** कामादिविकार रहितं **जातम्** अभूत् । तत्र कारणमाह—**हि** यतः **मृत्योः** यमस्य मरणरूपस्य मरणरूपस्य वा भावस्य **स्वस्रा** भगिन्या **इव जरसा** वृद्धत्वेन जीर्णतया वा **ग्रस्यमानां** कवली-

क्रियमाणां स्वां निजां तनुं शरीरं तुहिनमथितां हिममर्दितां पद्मिनीं कमलिनीं वा इव ('व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः) अन्यरूपां विसदृशीं जातां भूतां मन्ये अवगच्छामि ।

विशेषः—यावदज्ञानमासीत् तावत् मे शरीरं सर्वदैवैवमेव स्थास्यति न किमपि भयमिति यथेच्छं विषयोपभोगः क्रियते स्म । अज्ञाने नष्टे विकारशून्ये च मनसि जाते शरीरं साक्षात् मृत्योर्भगिन्येव जरया ग्रस्यमानं प्रतिदिनं क्षीयमाणमिव पश्यामीति कुतो मे विषयाभिलाषः स्यादिति भावः । अत्र जरामृत्योर्भगिनीवेत्युत्प्रेक्षा, तदेव शरीरमन्यदिवावगम्यते इति चोत्प्रेक्षेत्युत्प्रेक्षालङ्कार एव ॥ १० ॥

अथैवं प्रत्याख्यातां निजसखीं कोशां वीक्ष्य तत् सखी काचिदाह—

तस्मिन्नेवं वदति चतुरोवाच तस्या वयस्या,
जातं किं ते सुभग ! हृदयं निर्दयं वाढमेतत् ? ।
पश्याऽस्यास्त्वं तव विरहतो वक्त्रमभ्रास्तदीप्ते-
रिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्ते र्बिभर्त्ति ॥११॥

अन्वयः—

तस्मिन् एवं वदति (सति) चतुरा तस्याः वयस्या उवाच, हे सुभग ! एतत् ते हृदयं बाढं निर्दयं किं जातम्, तव विरहतः अस्याः वक्त्रं अभ्रास्तदीप्तेः त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः इन्दोः दैन्यं बिभर्ति (इति) त्वं पश्य' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

तस्मिन् स्थूलभद्रे **एवं** पूर्वोक्तरूपेण **वदति** कथयति (सति) **चतुरा** अभिप्रायज्ञाननिपुणा **वयस्या** वयसा तुल्य वयस्या [हृद्यपद्य० (७ १-११) इति य.] समानवयाः सखी **उवाच** वक्ष्यमाणां वचनं जगाद, **हे सुभग** ? सुन्दर ! सौभाग्यशालिन् वा **एतत्** वचसाऽनुमीयमानं **ते** तव **हृदयम्** अन्तःकरणं **बाढम्** बाह्यते स्म इत्यर्थे "क्षुब्धविरिब्ध० (४-४-९१)" इति निपातनात् **बाढम्** दृढं तीव्रं वा ('अत्यर्थे गाढमुद्गाढं बाढं तीव्रं भृशं दृढम्' अभि०६-१४१) **निर्दयं** परदुःखप्रहाणेच्छारूपदयाशून्यं **किं** कुतः कारणात् **जातं** सम्पन्नम्, **तव** भवतः **विरहतः** वियोगाद्धेतोः **अस्याः** मम सख्याः कोशायाः **वक्त्रम्** मुखम्, **अभ्रास्तदीप्तेः** अभ्रेण मेघेन आस्ता क्षिप्ता दीप्तिः कान्तिर्यस्य तादृशस्य **त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः** त्वदनुसरणेन त्वन्मुखतुल्यताप्राप्ति हेतोस्तवानुनमनक्लेशे क्लिष्टा दूषिता कान्तिः शोभा यस्य

तादृशस्य च इन्दोः चन्द्रस्य दैन्यम आर्त्तिम् बिभर्त्ति धारयति (इति) त्वं स्थूलभद्रः पश्य अवलोकय।

विशेषः—पूर्वोक्तरूपेण कोशाया अभिप्राय निराकुर्वत-स्तव हृदयं निर्दयं कठोरं जातमित्यवधारयामि। त्वया स्वविर-हेण परिम्लायमानं कोशाया वदनं निरीक्षणीयम्, तथा च यथाऽस्या मुखं विकसेत् तथा त्वयाऽऽचरणीयम्, परदुःख-प्रहाणेच्छारूपदया हि सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो गरीयसीति सा न हेयेति भावः। 'त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः' इति पदेनैतन्मुखस्य चन्द्रातिरेको ध्वनित इति प्रकृते व्यतिरेकालङ्कारध्वनि ॥११॥

कोशाया एव विरहावस्थां वर्णयति—

एषाऽनैपीत् सुभग! दिवसान् कल्पतुल्यानियन्त,
कालं वाला बहुलसलिलं लोचनाभ्यां स्रवन्ती।
अस्थाद् दुःस्था तव हि विरहे मामियं वार्त्तयन्ती,
कच्चित्भर्तुः स्मरसि रसिके! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥१२॥

अन्वयः—

'हे सुभग! एषा वाला लोचनाभ्यां बहुलसलिलं स्रवन्ती इयन्तं कालं कल्पतुल्यान् दिवसान् अनैषीत्। हि तव विरहे दुःस्था इयम्, हे रसिके! भर्तुः स्मरसि कच्चित्, हि त्वं तस्य प्रिया इति मां वार्तयन्ती अस्थात्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे सुभग ! एषा दृश्यमाना बाला अल्पोपयात यौवनोद्भेदा कोशा लोचनाभ्यां नेत्राभ्यां बहुलसलिलं अधिकाधिकं जलम्-अश्रु स्रवन्ती क्षरन्ती इयन्तं तत्र विरहदिनादारभ्याद्यपर्यन्तं कालं समयं यावत् "कालाध्वनो-र्व्याप्तौ (२-२-४२)" इति द्वितीया, कल्पतुल्यान् कल्पेन दैवयुगसहस्रेण तुल्यान् समान् ('दैवे युगसहस्रे द्वे ब्राह्मं (वर्षम्) कल्पौ तु ते नृणाम्' अभि० २-७४) दिवसान् वासरान् अनैषीत् अत्यवाहयत्; हि यतः तव भवतः विरहे वियोगे दुःस्था दुःखेन स्थितिमती इयम् कोशा हे रसिके ! सरसे ! भर्तुः स्थूलभद्रस्य स्मरसि निध्यायसि कच्चित् किम्, हि यतः त्वं तस्य स्थूलभद्रस्य प्रिया प्रीतिपात्रम् (आसीः) इति पूर्वोक्तरूपेण मां तद्वयस्यां वार्तयन्ती आलपन्ती अस्थान् सर्वदैवमालायलग्नैवासीत्।

विशेषः—तत्र विरहे अस्याः कोशाया एकं दिनं दैवयुगसहस्रवत् कथं-कथमपि अतिक्रान्तम्, तत्रापि सर्वदा लोचनाभ्यामश्रु क्षरन्ती त्वद् विषयां वार्तां कुर्वाणैवाऽऽसीत्। एवञ्चेदृशानन्यपरायणहृदयाया अस्या स्त्यागः त्वया न विधेय इति तात्पर्यम् ॥ ९२।

पुनरपि कोशाया एवावस्थान्तरं वर्णयति—

मूर्च्छान्ते सा सुभग ! रुदती वारिता दिननादं,
प्रातः सातं सखि ! वद कदाऽसौ समेतेत्यवग् माम्।
लातुं वेलां तव सुललितं गीतमुद्गातुकामा,
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥१३॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! वेलां लातुं तव सुललितं गीतम् उद्गातु कामा स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां भूयः भूयः विस्मरन्ती, मूर्च्छान्ते दीननादं रुदती वारिता सा हे सखि ! असौ कदा समेता (इति) प्रातःसातं वद, इति माम् अवक्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे सुभग ! वेलां समयं लातुं कथमपि अतिवाहयितुम्, तव भवतः सुललितं सुमधुरं गीतम् गानविषयम् उद्गातुकामा उद्गातुम् उच्चैः परश्रवणगोचररूपेण गातुं कामोऽभिलाषो यस्याः सा, ("तुमश्च मनःकामे (३-२-१४०)" इति तुमो मस्य लुक्) स्वयमपि स्वेनैव कृतां विहितां मूर्च्छनाम् स्वराणामारोहावरोक्रमविशेषं। "स्वरः संमूर्च्छितो यत्र, रागतां प्रतिपद्यते। मूर्च्छनामिति तां प्राहुः, कवयो ग्राम संभवाम् ॥" इति सङ्गीतशास्त्रोक्तरूपाम् भूय भूयः वारंवारं विस्मरन्ती अनवदधाता, मूर्छान्ते स्मरकृतासु

नयन-प्रीत्यादिषु दशसु स्मर दशासु नवमी मोहरूपा दशां मूर्च्छां तस्या अन्ते विगमे **दीननादम्** दीनवत् नदनं यथा स्यात् तथा **रुदती** रोदनं विदधती **वारिता** प्रतिरुद्धा **सा** कोशा 'हे **सखि** ! समानहृदये ! **असौ** दूरं गतः स्थूल-भद्रः कदा कस्मिन् दिवसे काले वा **समेता** समागन्ता (इति) **प्रातःसातं** प्रातः कालिकं माङ्गलिकं वस्तु **वद** कथय' इति इत्थं **माम्** तत्सखीं **अवक्** अकथयत् (वचेर-नद्यतन्यां प्रथम पुरुषैकवचने रूपम्)।

विशेषः—कथमपि समयमतिवाहयितुं तदैव गीतं गातु मिच्छन्त्यपि चित्तस्यानवस्थिततया कियत्पर्यन्तं कं मार्ग-मवलम्ब्य मया गीतमित्यपि विस्मरन्ती मूर्च्छिता भवति। मूर्च्छान्ते च किमिदं भवतीति निश्चेतुमशक्नुवाना दीनेव रोदिति। रोदनाद् वार्यमाणा च पृच्छति यत् हे सखि! असौ कदा समेतेति प्रातःकालिकं सुखकरं वाक्यं कथय। मूर्च्छामसौ निद्रां मन्यते, निद्रान्ते च प्रातरेव प्रबुद्धाऽस्मीति जानती प्रातःकालिकं माङ्गल्यं तदागमन सूचनामेव मन्वाना तत्कथनाय प्रेरयति। एतेन "नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्ग-स्ततोऽथ सङ्कल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्र-पानाशः॥ उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशदशैव स्युः।" इति रतिरहस्योक्तासु कामकृतदशासु नवमीं दशां प्राप्ताया अस्याः उपेक्षायां कृतायां कदाचिद् दशमी (मृतिः) दशाऽपि

सम्भाव्यत इति विचार्य त्वयाऽनुकम्पा कार्येति सख्या हृदयम् ॥ ९३ ॥

पुनरस्या एव विरहदशां वर्णयति—

पृष्ट्वा पृष्ट्वा गणकनिचयं जीवितं धारयन्ती,
नीत्वा नीत्वा कथमपि दिनान्यङ्गुलीभिर्लिखन्ती।
गत्वा गत्वा पुनरपि पुनर्द्वारि तस्थौ च गेहे,
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—

'(एषा) गणकनिचयं पृष्ट्वा पृष्ट्वा जीवितं धारयन्ती, अङ्गुलीभिः लिखन्ती दिनानि कथम् अपि नीत्वा-नीत्वा, पुनः पुनः अपि द्वारि गत्वा-गत्वा च गेहे तस्थौ, रमण-विरहेषु एते प्रायेण अङ्गनानां विनोदाः (भवन्ति)' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

(एषा कोशा) गणकनिचयं ज्योतिर्विदां समूहं पृष्ट्वा-पृष्ट्वा कदा मे प्रियः समागन्ता इति भूयो भूयः प्रश्नं कृत्वा कृत्वा (तदुत्तरानुसारं) जीवितं प्राणान् धारयन्ती न परित्यजन्ती, अङ्गुलीभिः करावयवैः लिखन्ती गणयन्ती दिनानि वासरान् कथमपि केनापि

प्रकारेण नीत्वा-नीत्वा अतिवाह्यातिवाह्य, पुनः पुनः अपि भूयो भूयोऽपि द्वारि गृहाग्रभूमौ गत्वा-गत्वा पौनः पुन्येन गमनमाधाय, गेहे स्वावासे तस्थौ स्थिरा बभूव। एतच्चार्थान्तरन्यासेन समर्थयति—रमणविरहेषु प्रणयि-वियोगेषु सत्सु एते पूर्वोक्ताः पौनः पुन्येनैक क्रियानुष्ठान-रूपाः प्रायेण बाहुल्येन अङ्गनानां स्त्रीणां विनोदाः मनोऽपनोदनसाधनानि (भवन्ति) ॥

विशेषः——कदा मे प्रिय आगमिष्यतीति ज्ञातु ं गणकान् पृच्छति स्म, ततैश्च कालविशेषे तदागमनस्य कथिते तत् प्रत्याशया जीवितं धारयति स्म, कदा तद् दिनं प्राप्स्यतीति संख्यातु ं प्रतिदिनमङ्गुलीभिः लेखारूढं—गणनायुक्तं करोति स्म, तेनैव च प्रकारेण दिनानि गमयति स्म, आगतः किमिति जिज्ञासया भूयो भूयो द्वारि गत्वा प्रति निवृत्त्य च गृहे स्थितिं करोति स्म। किमर्थमेतत्सर्वमाचरितमिति चेद् नैतत्समर्थनायोक्तम्-प्रायेण पतिविरहसमये अङ्गना एवमेव मनोविनोदयन्तीत्युक्तम्, एवञ्च सामान्येन सकलविरहिणी-स्वभावकथनेन अस्यादशा-विशेषस्य समर्थनं कृतमित्यर्था-न्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ६४ ॥

पुनस्तदवस्थमेव वर्णयति—

शृङ्गारं स्वं सुभग ! विरहेऽङ्गारवत् संत्यजन्ती,
दुःखेनाऽलं निजपरिजनं दुःखदिग्धं सृजन्ती ।
प्रेम्णा बद्धां निपुण ! भवता तां मुहुः संस्पृशन्ती,
गराडाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥१५॥

अन्वयः—
'हे सुभग ! विरहे स्वं शृङ्गारम् अङ्गारवत् संत्यजन्ती, दुःखेन निदपरिजनं अलं दुःखदिग्धं सृजन्ती, हे निपुण ! भवता प्रेम्णा बद्धां कठिनविषमाम् तां एकवेणीं गण्डाभोगात् मुहुः संस्पृशन्ती (तस्थौ)' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—
हे सुभग ! विरहे तव वियोगस्य समये स्वं निजं शृङ्गारं भूषणम् अङ्गारवत् वह्निकणवत् सन्त्य जन्ती परिहरन्ती, दुःखेन स्वीयेन कष्टेन निजपरिजनं स्वसेवकवर्गम् अलम् अत्यन्तं दुःखदिग्धं कष्टलिप्तं सृजन्ती रचयन्ती हे निपुण ! चतुर ! भवता त्वया प्रेम्णाः स्नेहेन बद्धां रचितां कठिनविषमाम् कठोरां निम्नोन्नतां च तां परिचिताम एकवेणीम् एकीभूतां केशजूटिकां गण्डाभोगात् गण्डस्थलमारभ्य मुहुः वारं वारं (यत्लोपे पञ्चमी) संस्पृशन्ती आमृशन्ती तस्थौ-इति पूर्वोक्ता क्रियाऽत्राप्यनु सन्धेया ॥

विशेषः—एकपत्नीनां पति विरहे शृङ्गारत्यागः दुःखित्वम्, एकवेणीधारणं चेति, सम्प्रदायः तथाचेयं त्वदेकपत्नीति त्वयाऽस्यास्त्यागोनोचितः। शृङ्गाराङ्गादि पदेषु अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ९५ ॥

तव संयोगस्यावस्थायां यदभूत् तद्विपरीतं वियोगे भवतीत्याह—

नीता रात्रिः क्षण इव पुरा या त्वयेद्धाऽपि सार्द्धं,
क्रीडायोगैः सुरतजनितैश्चारुभोगोपभोगैः।
निःश्वासौघैर्निजतनुगतं चन्दनं शोषयन्ती,
तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्व्यापयन्ती ॥ ९६ ॥

अन्वयः—

'पुरा या रात्रिः इद्धा अपि त्वया सार्द्धं क्रीडायोगैः सुरतजनितैः चारुभोगोपभोगैः क्षण इव नीता, निःश्वासौघैः निजतनुगतं चन्दनं शोषयन्ती, विरहजनितैः उष्णैः अश्रुभिः तामेव व्यापयन्ती (तस्थौ)' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

पुरा पूर्वं (तव संयोगे सति) या यत्परिमाणा रात्रिः निशा इद्धा दीप्ता अपि त्वया भवता सार्द्धं सह क्रीडा-

योगैः लीलाविलासैः **सुरतजनितैः** मैथुनादिसमयोत्पन्नैः **चारुभोगोपभोगैः** चारुभिः सुन्दरैः भोगोपभोगैः भोगानामुपभोगैः सेवनैः **क्षण इव** क्षणतुल्यं **नीता** अतिवाहिता, **निःश्वासौघैः** विरहजनितदीर्घश्वाससमूहैः **निजतनुगतं** स्वदेहस्थितं **चन्दनं** श्रीखण्डचन्दनं **शोषयन्ती** शुष्कं कुर्वती **विरहजनितैः** वियोगकालोत्पन्नैः **उष्णैः** तप्तैः **अश्रुभिः** नेत्रजलैः **तामेव रात्रिं व्यापयन्ती** व्यापिकां दीर्घीभूतां कुर्वती, (तस्थौ) ॥

विशेषः—तव संयोगेऽस्या वा रात्रिः क्षण इव रतिसुखाद्युपभोगैर्व्यतीता सैव सम्प्रति दीर्घीभूता नातिवाहयितुं शक्यत इति भावः ॥ ९६ ॥

अपि च—

दत्त्वा दुःखं मम किमु सुखं हा ! विधातस्त्वयाऽऽप्तं ?
जानात्यन्यो न हि परगतां वेदनां वाऽत्र कश्चित् ।
निन्दित्वाऽलं विविधवचनैर्दैवमेवं प्रमीला-
माकाङ्क्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥९७॥

अन्वयः—

'(एषा) हा ! विधातः मम दुःखं दत्त्वा त्वया किमु सुखम् आप्तम् वा अत्र कश्चित् अन्यः परगतां वेदनां न

जानाति । एवं त्रिविधवचनैः दैवम् अलं निन्दित्वा नयन-सलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् प्रमीलाम् आकाङ्क्षन्ती (तस्थौ)' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

(एषा) हा विधातः ! दैव ! मम कोशाया दुःखं कष्टं दत्त्वा वितीर्य त्वया भवता किमु किं रूपं सुखम् आनन्दः आप्तम् प्राप्तम्, पक्षान्तररूपेणाऽर्थान्तरमुपस्यैतत्समर्थयति वा अथवा अत्र लोके कश्चित् कोऽपि अन्यः दुःखभाजो भिन्नः परगताम् परस्मिन् दुःखभाजि जने स्थितां वेदनां पीडां न जानाति नैवानुभवति । एवम् उक्तप्रकारेण विविध-वचनैः नानावाक्यैः दैवं विधातारम् अलम् अत्यन्तम् निन्दित्वा तिरस्कुर्वता नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् नयनसलिलानां नेत्रजलानाम् उत्पीडेन प्रबाधेन रुद्धः प्रति-बद्धः अवकाशः स्वरूपप्राप्त्यवसरः यस्याः तां प्रमीलाम् मूर्च्छाम् आकाङ्क्षन्ती अभिलष्यन्ती (तस्थौ) ॥

विशेषः—"परगतं हि दुःखं शीतलं भवति" इति लोकोक्तयनुसारं मां दुःखयता त्वया किं सुखमाप्तम्" इत्यादिरूपेण विधातारं बहु निन्दन्ती मूर्च्छामिच्छन्त्यपि नयनजलप्रवाह-स्यातिप्रसरात् तामपि न प्राप्नोतीत्याशयः । परगतदुःखाऽज्ञान-रूपेण सामान्येन, मदीय दुःखेन त्वं दुःखी न भवसीति व्यङ्ग्योऽर्थः समर्थित इति अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥६७॥

किञ्च--

संमृज्य श्रुप्लुतमथ निजं दिक्षु चक्षुः क्षिपन्ती,
क्षौमान्तेन स्वमनसि जगज्जानती शून्यमेतत्।
स्मृत्वा स्मृत्वा तव गुणगणं भूमिपीठे लुठन्ती,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ॥१८॥

अन्वयः—

'अथ प्लुतम् अश्रु क्षौमान्तेन संमृज्य निजं चक्षुः दिक्षु क्षिपन्ती स्वमनसि एतत् जगत् शून्यं जानती तव गुणगणं स्मृत्वा स्मृत्वा भूमिपीठे लुठन्ती साभ्रे अह्नि स्थलकमलिनी इव न प्रबुद्धा न सुप्ता' इत्यन्वयः।

व्याख्या--

अथ पूर्वोक्तरोदनानन्तरं प्लुतम् चक्षुषिव्याप्तम् अश्रु नेत्रजलम् क्षौमान्तेन वस्त्राप्रान्तेन संमृज्य प्रोञ्छ्य, निजं स्वीयं चक्षुः नेत्रं दिक्षु सर्वतः क्षिपन्ती प्रेरयन्ती स्वमनसि स्वचित्ते एतत् दृश्यमानं जगत् संसारं शून्यं जनरहितं जानती निश्चिन्वाना तव भवतः गुणगणं दया-दाक्षिण्यादिगुणसमूहं स्मृत्वा-स्मृत्वा ध्यात्वा-ध्यात्वा भूमिपीठे महीतले लुठन्ती परिवर्त्तमाना साभ्रे मेघसहिते

अह्नि दिने स्थलकमलिनी भूपद्मिनी इव न प्रबुद्धा न जागरिता प्रफुल्ला वा, न सुप्ता निद्रिता मुकुलिता वा ॥

विशेषः—रोदनान्तेऽश्रु प्रमार्ज्य कमपि एतस्मादुद्धारकं जनमन्विष्यन्ती चक्षुः प्रतिदिशं क्षिपति, कमपि तादृशं त्वादृशं वा जनमपश्यन्ती जगदिदं शून्यमिति स्वमनसि निश्चिन्वती तव गुणान् स्मृत्वा भूमौ पतति । तदानीमियं जागर्ति वा स्वपिति वेति न किमपि निश्चितुं शक्यते । यथा मेघाच्छादिते दिने सूर्यातपाभावात् स्थलमलिनी न विकसति, रात्र्यभावाच्च न मुकुलिता भवतीति दोलायमाना तिष्ठति तथैवेयमपीति दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९८ ॥

आत्मनो दुःखं प्रकटयन्ती सख्याः कोशाया उपरि दयां प्रार्थयते—

आलोक्याऽस्यास्तव विरहजं चेष्टितं यन्न भिन्नं,
तज्जानीमो वयमिति निजं वज्रसारं हृदेतत् ।
कारुण्यं तत्सदयहृदयाऽत्रोचितं ते विधातुं,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ ९९ ॥

अन्वयः—

अस्याः तव विरहजं चेष्टितम् आलोक्य यत् न भिन्नम्, तत् एतत् हृत् वज्रसारम् इति वयं जानीमः, तत् हे सदय

हृदय अत्र ते कारुण्यं विधातुम् उचितम्; प्रायः सर्वः आर्द्रान्तरात्मा करुणा वृत्तिः भवति इत्यन्वयः।

व्याख्या—

अस्याः मम सख्याः कोशाया तव भवतः विरहजं वियोगावस्थाकृतं चेष्टितम् व्यापारम् आलोक्य निरीक्ष्य यत् यस्मात् न भिन्नम् विदीर्णम्, तत् तस्मात्, एतत् मदीयं हृत् हृदयं वज्रसारम् वज्रस्य कुलिशस्येव सारो बलं दृढत्वं वा यस्य तादृशम्, इति वयं कोशा सख्यः जानीमः अवधारयामः, तत् तस्मात् हे सदय हृदय ! सदयं दयया सहितं हृदयं यस्य तदामन्त्रणम्, अत्र अस्यां मम सख्यां कोशायां ते तव कारुण्यं करुणोपयुक्तं कर्म विधातुं कर्तुम् उचितम् योग्यम्, अत्र अर्थान्तरन्यासेन प्रकृतमर्थं समर्थयति प्रायः बाहुल्येन सर्वः सकलः आर्द्रान्तरात्मा स्निग्धान्तः करणो जनः करुणावृत्तिः करुणया सहितावृत्तिः आचरणं यस्य तादृशः भवति जायते ॥

विशेषः—अस्या मम प्राणसमायाः सख्याः तव विरहावस्थायां तानि तानि दुःसहानि चेष्टितानि दृष्ट्वाऽपि यदहं जीवन्त्येवास्मि तदवधार्यते यत् वज्रहृदयाऽस्मि, भवाँस्तु सदयहृदयोऽतः करुणावताऽवश्यमेव भाव्यं भवतेति मम सख्यां स्वकारुण्यं प्रयोजनीयमिति भावः। अस्यां कारुण्य

विधानरूपो विशेषः सर्वस्यार्द्रान्तरात्मनः करुणया सहितत्वं प्रसिद्धमिवेति सामान्येन समर्थित इत्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ९९ ॥

यदि भवानद्यापि नैनां संभावयिष्यति नूनमियं प्राणाँस्त्यजेत् इत्याह—

अस्मद्वाक्यं यदि न हि भवान् मानयिष्यत्यदोऽपि,
प्राणत्यागं तदियमचिरात् सा विधास्यत्यवश्यम् ।
भूयो भूयः किमिह बहुना जल्पितेनाऽत्र भावि,
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥१००

अन्वयः—

'भवान् अदः अस्मद्वाक्यं यदि न मानयिष्यति अपि, तत् इयम् सा अचिरात् प्राणत्यागम् अवश्यं विधास्यति, हे भ्रातः इह भूयः भूयः बहुना जल्पिते न किम् अत्र ते निखिलम् अचिरात् प्रत्यक्षं भावि मया यत् उक्तम्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

भवान् ! श्रीस्थूलभद्रः अदः अनुपदमुक्तम् अस्मद्वाक्यम् मदीयं वचनम् यदि चेत् न मानयिष्यति स्वीकरिष्यति अपि इति संभावनायाम्, तत् तर्हि इयं सा

प्रत्यक्षदृश्यमाना कोशा सखी अचिरात् शीघ्रम् प्राण-त्यागम् जीवितपरिहारम् अवश्यं निश्चितं विधास्यति करिष्यति। हे भ्रातः! इति स्वजनताख्यापनाय अवश्ध-नीयताप्रतीत्यर्थं चामन्त्रम्, इह अस्मिन् विषये भूयः-भूयः वारं-वारं बहुना अधिकेन जल्पितेन कथितेन किम् किमपि प्रयोजनं नास्ति, अत्र अस्मिन्नेव काले स्थाने वा ते तव निखिलम् सर्वं प्रत्यक्षम् साक्षात्कृतम् भावि भविष्यति, किं तत् सर्वम्? यत् सर्वं मया कोशा सख्या उक्तम् कथितम् ॥

विशेषः—इयं तत्पक्षपातिनी गणिका चेटी मिथ्यैव सर्वमभिदधातीति विज्ञाय यदि मदीयं वाक्यं भवान् न विश्वसिष्यति, स्वाग्रहेणैव संयमे-मुनिधर्मे एव व्यवस्थितो भविष्यति; तर्हि, मम न काऽपि हानिः, परमियं मरिष्यत्येव। अत्र विषयेऽधिककथनेनालम्—स्वयमेव भवान् अत्रैव सर्वं मदुक्तं प्रत्यक्षेणैव द्रक्ष्यतीति भावः। प्रत्यक्षं च सर्वप्रमाणतो बलवत्। अतोऽस्या अवस्थां भवान् स्वयमेव पश्यत्विति भावः ॥ १०० ॥

अहनि कथञ्चिदाश्वसित्यपि रात्रौ तु कष्टा स्थिति रित्याह—

वार्त्ताव्यग्रां तुदति न तथा त्वद्वियोगोऽह्नीमां,
यद्वद्रात्रौ कृतबहुशुचं चन्द्ररोचिश्चितायाम् ।
पश्यत्वेनां स्वयमपि भवानद्य भूमीशयानां,
तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—

अह्नि वार्ताव्यग्राम् इमाम् त्वद्वियोगः तथा न तुदति यद्वत् रात्रौ चन्द्ररोचिश्चितायां कृतबहुशुचम् (तुदति) अद्य भवान् स्वयमपि अवनि शयनासन्नवातायनस्थः भूमीशयानाम् उन्निद्रां ताम् एनाम् पश्यतु इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

अह्नि दिवसे वार्ताव्यग्रां त्वत्सम्बन्धि समालापव्यस्ताम् इमाम् कोशाम् त्वद्वियोगः तव विरहः तथा तद्वत् न तुदति व्यथयति, यद्वत् यथा रात्रौ निशि चन्द्र रोचिश्चितायाम् चन्द्रस्य रोचिः ज्योत्स्नैव चिता शवदाहचुल्ली तस्यां कृतबहुशुचम् विहिताधिकशोकाम्, (तुदति) अद्य अस्यां रात्रौ भवान् स्थूलभद्रः स्वयमपि आत्मनाऽपि अवनिशयना सन्नवातायनस्थः अवनौ भूमौ यत् शयनम् शय्या स्तरणम् तदासन्ने तत्समीपस्थिते वातायने गवाक्षे स्थितः आश्रितः सन् भूमीशयानाम् पृथ्वीतल-

परिवृत्ताम् उन्निद्राम् उच्छिन्न निद्राम् ताम् एनाम् पूर्वोक्तरूपां कोशाम् पश्यतु प्रत्यक्षी करोतु ॥

विशेषः——दिवा बह्व्यः सख्योऽन्ये च जनाः कुशलादिवार्ताग्रहणाय तिष्ठन्ति तैः सह भवद्विषयालापेन कथञ्चिद् दिनमतिवाहयतीति न वियोगव्यथा तथाऽनुभूयते, यथा रात्रावेकाकिनी चन्द्रज्योत्स्ना स्थितया। (तस्याश्चातिशयकामोद्दीपकतया तत्र चितायामिव दुःखेनावस्थितिरिति हृदयम्) एतच्च भवानद्यापि रात्रौ वातायनाश्रितो भूत्वा प्रच्छन्न एव द्रष्टुं शक्ष्यतीति भावः। चन्द्ररोचिश्चितायामित्यत्र रूपकमलङ्कारः ॥ १०१ ॥

स्वाभिप्रायं निगमयति—

विज्ञप्तिं मे सफलय कुरु स्वं मनः सुप्रसन्नं,
सख्या साकं मम भज पुनर्देव! भोगान् विचित्रान्।
वामाक्ष्यस्यास्त्वयि सति मुहुः स्पन्दमेत्य प्रसन्ने,
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीव ॥ १०२ ॥

अन्वयः—

'हे देव! मे विज्ञप्तिं सफलय, स्वं मनः सुप्रसन्नम् कुरु, मम सख्या साकम् विचित्रान् भोगान् पुनः भज, त्वयि

प्रसन्ने सति अस्याः वामाक्षि मुहुः स्पन्दम् एत्य मीन-क्षोभात्-चलकुवलयश्रीतुलाम् एष्यति इव' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे देव ! क्रीडाविशारद ! मे मम विज्ञप्तिं प्रार्थनां सफलय सार्थिकां कुरु स्वं स्वकीयं मनः चित्तं सुप्रसन्नम् अतिशयप्रमुदितं कुरु प्रकटय, मम सख्या कोशया साकं सह विचित्रान् आश्चर्यजनकान् भोगान् स्रक्चन्दनाद्युप-योगपूर्वकान् विहारान् पुनः भूयः पूर्ववत् भज सेवय । त्वयि भवति प्रसन्ने मुदिते सति अस्याः कोशाया वामाक्षि वामनयनं मुहुः वारं-वारं स्पन्दम् चञ्चलताम् एत्य प्राप्य मीनक्षोभात् मत्स्यसंघट्टात् चलकुवलय-श्रीतुलाम् चलस्य चञ्चलस्य कुवलयस्य नीलकमलस्य श्रिया सह तुलां सादृश्यम् एष्यति प्राप्स्यति इव इत्युत्प्रेक्ष्यत इति भावः ॥

विशेषः—इत्थं पूर्वकथितानुसारं तदवस्थायां विज्ञातायां सम्प्रति एतदेव कर्तव्यम् यन्मे प्रार्थनां स्वीकृत्य सुप्रसन्नेन मनसा कोशया सह भोगान् भुङ्क्ष्व । त्वयि च प्रसन्ने सति स्त्रीणां सौख्यसूचकं वामाक्षि अस्याः स्पन्दमेत्य चल-कुवलयेन साम्यं दधात्विति तात्पर्यम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ १०२ ॥

त्वयि सुप्रसन्ने किं किं भावीत्येव दर्शयति—

जेष्यत्याऽऽस्यं प्रमुदितमलं मेघमुक्तस्य शस्यां,
शोभामिन्दोर्विकसितरुचेश्चारुरोचिश्चितं स्राक् ।
प्राप्ते प्रीतिं भवति सुभगाऽऽनन्दितायाः किलाऽस्या,
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥१०३॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! भवति प्रीतिं प्राप्ते सति, आनन्दिताया अस्याः चारुरोचिश्चितम्-अलं प्रमुदितम् आस्यम् मेघमुक्तस्य विकसित रुचेः इन्दोः शस्यां शोभां स्राक् जेष्यति, सरसकदलीस्तम्भगौरः ऊरुः चलत्वम् यास्यति किल' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सुभग ! भवति त्वयि प्रीतिं प्रसन्नतां प्राप्ते सति आनन्दितायाः प्रसन्नाया अस्याः मम प्रियसख्याः कोशायाः चारुरोचिश्चितम् चारुणा सुन्दरेण रोचिषा कान्त्या चितम् व्याप्तम् अलम् अत्यर्थम् प्रमुदितम् प्रसन्नम् आस्यम् मुखम् मेघमुक्तस्य जलदनिर्गतस्य विकसितरुचेः विकीर्णकान्तेः इन्दोः चन्द्रस्य शस्यां प्रशंसनीयां शोभां छविं स्राक् झटिति जेयष्ति अभिभविष्यति, (तथा) सरसकदलीस्तम्भगौरः सरसः आर्द्रः यः कदली स्तम्भः

रम्भाकाण्डम् तद्वत् गौरः शुभ्रः ऊरुः जघनोपरिभागः चलत्वम् कम्पम् यास्यति प्राप्स्यति किल निश्चयेन ॥

विशेषः—भवति प्रसन्नमात्र एवास्या वदनं सुप्रसन्नम्, पतिसमागमसूचकमूरुस्पन्दनं च भविष्यत्येव । सरसकदली-स्तम्भगौर इत्यत्रोपमालङ्कारः, इन्दोः शोभां जेष्यतीत्यत्र च व्यतिरेकालङ्कार ध्वनिः ॥ १०३ ॥

किञ्च—उपभोगक्रममप्युपदिशति—

दुःखक्षामा न खलु सहते बाढमाश्लेषमेषा,
मद्बाहुभ्यां सदय ! मनसीदं स्वकीये विचार्य ।
कार्षीदस्याः प्रथममिलने मा भवान् स्नेहवत्याः,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ १०४ ॥

अन्वय—

हे सदय ! दुःखक्षामा एषा मद्बाहुभ्याम् बाढम् आश्लेषम् न खलु सहते इदं स्वकीये मनसि विचार्य भवान् स्नेहवत्याः अस्याः प्रथममिलने सद्यः कण्ठच्युतभुजलता-ग्रन्थि गाढोपगूढम् मा कार्षीत्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सदय ! दयया प्रियायाः क्लेशपरिजिहीर्षारूपया सहितः सदयः तदामन्त्रणम् "दुःखक्षामा दुःखेन प्रियवियोगजनितेन पूर्वोक्तकष्टेन क्षमा कृषा एषा कोशा भद्राङ्गभ्याम् मम स्थूलभद्रस्य वाहुभ्यां हस्ताभ्यां **बाढम्** दृढम् **आश्लेषम्** आलिङ्गनम् **न खलु सहते** नैव सोढुं शक्नोति" इदं पूर्वकथितरूपं वस्तु **स्वकीये** निजे **मनसि** चित्ते **विचार्य** अवधार्य **भवान्** स्थूलभद्रः **स्नेहवत्या** त्वयि परमस्निग्धायाः त्वत्परितोषाय स्वीयं दुःखमपि उपेक्षमाणाया **अस्याः** कोशायाः **प्रथममिलने** प्राथमिक समागमकाले **सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि** सद्यः तत्कालमेव कण्ठात् गलप्रदेशात् च्युता पृष्ठदेशं प्राप्ता या भुजलता बाहुवल्लीतया ग्रन्थिः परस्परस्य ग्रन्थनं यत्र तथाभूतम् **गाढोपगूढम्** गाढं दृढं यथा स्यात्तथा उपगूढम् आलिङ्गनम् **माकार्षीत्** नैव कुर्याः ॥

विशेष—बहोः कालात् पश्चात् समागमे जाते हर्षोद्रेकात् त्वं दृढमालिङ्गनं विधास्यसीति सम्भाव्यतेऽतः सूचयामि यदेषा बहुकालवियोगदुःखेन कृशा जातास्तीति अस्याः क्षमतामवधार्यैवालिङ्गने मृदुता विधेयेति भावः ।

अत्र आदर्शपुस्तके 'प्रथममलिने' इति पाठः समत्र लोक्यते; किन्तु तदर्थो नावधारित इति 'प्रथममिलने' इत्येवं कल्पितः, मुद्रणदोषेण सम्भाव्यते चेयं त्रुटिः ॥ १०४ ॥

अत्र प्रथममिलने तस्या लज्जया संभाविता त्रुटिमाह—

त्वामायातं शयनसदने वीक्ष्य लज्जाऽन्विताङ्गी,
नो कुर्याच्चेत् तव सुहृदय ! स्वागतं सा सखी नः।
स्नेहस्निग्धैर्मधुरवचनैराधिमुग्भिस्तदानीं,
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥१०५॥

अन्वय—

'हे सहृदय ! शयनसदने त्वाम् आयातं वीक्ष्य लज्जान ताङ्गी सा नः सखी तव स्वागतं चेत् नो कुर्यात्, तदानीम् धीरः स्नेहस्निग्धैः मधुरवचनैः, आधि मुग्भिः स्तनितवचनैः (च) मानिनीं वक्तुं प्रक्रमेथाः, इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सहृदय ! समानं हृदयं यस्य स सहृदयस्तत्सम्बो धनम्, शयनसदने शय्यागृहे त्वाम् भवन्तं आयातम् समागतं वीक्ष्य अवलोक्य लज्जानताङ्गी लज्जया बहुदिना-नन्तरं प्रथमसमागमव्रीडया आनतं नम्रम् अङ्गं यस्याः सा,

सा पूर्वोक्ता नः अस्माकं सखी आलिः कोशा, तव भवतः स्वागतं आगमनाभिनन्दनं चेत् यदि नो नैव कुर्यात् विदधीत, तदानीम् तस्मिन् समये धीरः धैर्यशाली (त्वं) स्नेहस्निग्धैः स्नेहेन प्रीत्या स्निग्धैः आर्द्रैः कोमलैः मधुरवचनैः मिष्टभाषणैः, आधिमुग्भिः मनोऽव्यथापहारकैः स्तनितवचनैः गर्जितवत् स्पष्टैर्वाक्यैश्च मानिनीं प्रणयकोपशीलां कोशां प्रति वक्तुम् आलपितुं प्रक्रमेथाः उपक्रमं कुर्याः ॥

विशेष—बहुदिनानन्तरं समागमोऽपि प्रथम समागम सदृश एवेति तत्र लज्जायाः संभावनास्ति, तया लज्जया प्रणयकोपेन वा सा यदि शयनसदनागतस्य तव स्वागतं न विदधीत, तर्हि तस्या इदमनौचित्यमविगणय्य भवता प्रीत्या, स्पष्टेन च वचनेन संभाषणमुपक्रमणीयम्। प्रीत्या लज्जा हानि मानिहानि श्च, स्तनितवद् स्पष्टै र्वाक्यै श्च 'अहमिदं सत्यं प्रतिजाने सर्वे शृण्वन्तु, नातः परमहं क्वाऽप्यन्यत्र गन्तास्मि' इत्यादिरूपैः मानसी व्यथा विनश्यति। तथाचानादरग एनया कोपो न कार्योऽपि तु सैव सान्त्वनीया येन प्रकृतिस्था भवेदिति भावः। स्तनितवचनैरित्यत्रोपमालङ्कारः ॥ १०५ ॥

एवमुक्तेऽपि किमपि प्रत्युत्तरमलभमाना पृच्छति—

किं काठिन्यं त्यजति न भवानागतोऽपि स्वगेहे,
स्वीयां जायां न हि निजदृशा स्नेहतो वीक्षतेऽपि ?।
प्रावृट्कालो रचयति मनांस्यध्वगानामयं द्राग्,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥१०६॥

अन्वयः—

'स्वगेहे आगतः अपि भवान् काठिन्यं किं न त्यजति ? हि स्वीयां जायां निजदृशा स्नेहतः वीक्षतेऽपि न ? अयं प्रावृट्कालः अध्वगानां मनांसि मन्द्रस्निग्धैः ध्वनिभिः अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि द्राक् रचयति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

स्वगेहे स्वीये गृहे **आगतः** पुनः प्राप्तः **अपि भवान् काठिन्यं** कठोरतां **किम्** कुतो **न त्यजति** न परिहरति ? **हि** यतः **स्वीयां** स्वाधीनां **जायां** पत्नीं **निजदृशा** स्वदृष्ट्या **स्नेहतः** प्रेम्णा **वीक्षतेऽपि** अवलोकयन्त्यपि **न** ? **अयं** समुपस्थितः **प्रावृट्कालः** वर्षासमयः **अध्वगानां** पथिकानां **मनांसि** चेतांसि **मन्द्रस्निग्धैः** मन्द्रैः धीरैः स्निग्धैः आर्द्रैः कोमलैः वा **ध्वनिभिः** मेघशब्दैः **अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि** अबलानां स्वस्वनारीणां वेण्याः केशग्रथनस्य मोक्षाय मोचनाय उत्सुकानि उत्कण्ठितानि **द्राक्** झटिति **रचयति** विदधाति ॥

विशेषः—यावद् भवान् बहिर्गत आसीत् तावत् शील-संरक्षणाय काठिन्यमये चितमेव, सम्प्रति तु स्वगृहमागत इति अत्र कोमलता प्रदर्शनमेव युक्तमिति स्वीयामिमां स्निग्धया दृष्ट्याऽवलोकयतु । वर्षाकाले हि पथिकानामपि मनांसि दयिता सम्पर्कायोत्सुकानि भवन्ति, भवांश्च समीपस्थ एव कुतो नो चितमाचरतीति पृच्छति । पतिविरहप्रारम्भे बद्धावेणी पतिभिरेवागत्य मोचनीयेति कुलाबलासम्प्रदायः स- इह सूचितः ॥ १०६ ॥

पूर्वमियं कोशासखी श्रीस्थूलभद्रेण संमानिताऽऽसीदिति तत्स्मारणपूर्वकं स्ववचनस्य कर्तव्यतामाह—

मान्या तेऽहं सुभग ! सततं वच्मि तेनैव बाढं,
वाक्यं मे तत् परिणतिशुभं मानयेदं वदान्य ! ।
मत्तो ज्ञात्वा व्यतिकरममुं लप्स्यते निर्वृतिं सा,
कान्तोदन्तः सुहृदुपहृतः संगमात् किञ्चिदूनः ॥१०७॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! अहं ते सततं मान्या, तेन एव बाढं वच्मि, तत् हे वदान्य ! परिणति शुभं मे इदं वाक्यं मानय । मत्तः अमुं व्यतिकरं ज्ञात्वा सा निवृतिं लप्स्यते, सुहृदुपहृतः कान्तोदन्तः सङ्गमात् किञ्चित् ऊनः (भवति)' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सुभग ! अहं कोशा सखी ते भवतः सततं सर्वस्मिन् काले मान्या प्रतीक्ष्या (आसम्) तेन कारणेन एव केवलं, बाढम् अत्यर्थं वच्मि कथयामि, तत् तस्माद्धेतोः हे वदान्य ! परमोदार ! परिणतिशुभम् परिणतौ परिणामकाले शुभम् कल्याणकरम् मे मम इदं पूर्वोक्तं वाक्यं वचनं मानय अङ्गीकुरु । मत्तः मम मुखात् अमुं अवयोर्मध्येवृत्तं व्यतिकरम् वार्त्तालापादिवृत्तान्तं ज्ञात्वा अवगत्य सा कोशा निवृत्तिं सन्तोषं लप्स्यते प्राप्स्यति, अर्थान्तरोपन्यासेन समर्थयति सुहृदुपहृतः सुहृदा मित्रेण सख्या वा उपहृतः आनीतः कान्तोदन्तः कान्तस्य कान्ताया वा उदन्तः वृत्तान्तः सङ्गमात् साक्षान्मिलनात् कश्चित् स्वल्पमेव ऊनः हीनः भवति ॥

विशेषः—पूर्वं मे वचनं त्वं न निराकार्षीः, अतस्तेऽहं मान्या आसम्, तेनैव विश्वासेन मया सम्प्रति बहु कथितम्, तच्च त्वया स्वीकरणीयमेव, तव च स्वीकृतिं मन्मुखादवगत्य सा त्वत्सङ्गमसुखमेव प्राप्स्यतीति भावः । सामान्येन कान्तोदन्तस्य सखीमुखाच्छ्रुतस्य सङ्गमसादृश्यप्रतिपादनेन मदुक्त स्तव वृत्तान्तः सङ्गमसुखं दास्यतीति विशेषोऽर्थः समर्थित इत्यर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥१०७॥

पूर्वमावश्यकं कर्तव्यं कुशलपृच्छारूपमपि भवान्न कृतवानित्युपालभते—

स्वामिन् ! जानन्नपि नयविधिं प्रोक्तवानन्यदन्यत्,
क्षेमप्रश्नं किमिति न भवानेकवारं चकार ।
विश्वेऽप्यस्मिन् खलु सुखभृतामप्यहो दैववश्ये,
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥१०८॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन् ! नयविधिं जानन् अपि भवान्, अन्यत् अन्यत् उक्तवान्, क्षेमप्रश्नं एकवारं किमिति न चकार अहो ! दैववश्ये अस्मिन् विश्वेऽपि सुखभृतामपि सुलभ विपदां प्राणिनाम्, एतद् एव पूर्वाभाष्यम् खलु' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! नयविधिं लोकनीतिं जानन् विदन् अपि भवान् श्रीस्थूलभद्रः अन्यत्-अन्यत् कुशल प्रश्नादितरदितरद् वस्तु उक्तवान् कथितवान्, क्षेममश्नं कुशलपृच्छाम् एकवारम् सकृदपि किमिति कस्माद्धेतोः न चकार न कृतवान् अहो ! आश्चर्यम् । दैववश्ये भाग्याधीने अस्मिन् दृश्यमाने विश्वेऽपि सर्वस्मिन्नपि

जगति सुखभृताम् सुखैर्युक्तानामपि सुलभविपदां सुलभा अप्रत्याशिता एव प्राप्यमाणा विपदः दुःखानि यैः तथाभूतानां प्राणिनां जीवानां कृते एतद् एव केवलं कुशलप्रश्नः पूर्वाभाष्यम् पूर्वं कथनीयं खलु निश्चयेन ॥

विशेषः—केनापि सह विशेषतो बान्धवैः सह प्रथममिलने सर्वालापतः पूर्वं कुशलमेव प्रष्टव्यम्, इति लौकिकं नयं (नीतिं) जानन्नपि भवान् पूर्वं कुशलम् पृष्ट्वैव अन्यदन्यदेव बहुतरमुक्तवानिति नीति परित्यागः कुतः कृतः। अस्य नयस्य औचित्यं काव्यलिङ्गालङ्कारेण समर्थयति—सर्वसुखसमृद्धा अपि प्राणिनोऽतार्कितमेव विपदभिभूता भवन्तीति सर्वत्र संसारे दृश्यते, अतः सर्वतः पूर्वं सर्वैः कुशलमेव प्रष्टव्यमिति भावः। उत्तर वाक्यार्थो हेतुत्वेन पूर्ववाक्यार्थं समर्थयतीतिकाव्यलिङ्गमेवालङ्कारः ॥ १०८ ॥

पुनरपि गेहादिप्रवेशायानुद्यतं प्रेरयति—

गेहस्यान्तर्व्रजति न भवान् भाषते नाऽपि पत्नीं,
सौधेऽपि स्वे वसति परवद् नो भजत्युग्रभोगान्।
लप्स्ये स्वर्गे सुखमिति वृथा चिन्तितैस्तीव्रकृच्छ्रैः,
संकल्पैस्तै विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥१०९॥

अन्वयः—

'भवान् गेहस्य अन्तः न व्रजति पत्नीम् नैव भाषते, स्वेऽपि सौधे परवत् वसति, उग्रभोगान् नो भजति, वैरिणा विधिना रुद्धमार्गः चिन्तितैः तीव्रकृच्छ्रैः तैः सङ्कल्पैः स्वर्गे सुखं लप्स्ये इति वृथा विशति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या--

भवान् ! श्रीस्थूलभद्रः **गेहस्य** आवास गृहस्य **अन्तः** मध्ये **न व्रजति** नैव गच्छति **पत्नीं** दयिताम् कोशां **नैव भाषते** आलपति, **स्वे अपि** निजेऽपि **सौधे** प्रासादे **परवत्** अपरिचितोऽन्य इव **वसति** तिष्ठति, **उग्रभोगान्** उग्रान् दीप्तान् **भोगान्** विषयान् अशनपानादीन् वा **न भजति** न सेवते । **वैरिणा** शत्रुणा सुखविरोधिना **विधिना** दैवेन अथ च यम-नियमादिविधायकेनागमवाक्ये न **रुद्धमार्गः** प्रतिबद्धमार्गः (त्वम्) **चिन्तितैः** ध्यातैः **तीव्रकृच्छ्रैः** तीव्रैः कठोरैः कृच्छ्रैः व्रतैः, **तैः सङ्कल्पैः** तद्विषयकसङ्कल्पैः अनेन व्रतेनाहममुकं सुखं प्रार्थये इत्यादिभि व्रतपूर्वाभिलाष सूचक-वाक्यैः **स्वर्गे** देवलोके **सुखं** वनितादिभोगं **लप्स्ये** प्राप्स्ये **इति** इत्थं **वृथा** व्यर्थमेव **विशति** उपविष्ट स्तिष्ठति ॥

विशेषः—भवान् उपस्थितं सर्वमिदं सुखं परित्यज्य स्वर्गे सुख प्राप्ति प्रत्याशया यत् ध्यानादिकमाचरन् गृहप्रवेशादिकं वर्जयति तन्न युक्तम् 'उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितस्य सुखस्य कल्पनाया अनौचित्यात्। तत श्च निःसन्देहं विषयोपभोगे प्रवर्तताम् भवानिति हृदयम् ॥ १०६ ॥

एवमपि तूष्णीमेव तिष्ठन्तं कोशावाक्यान्येव श्रावयति–

त्राता नस्त्वं सुभग ! शरणं जीवितव्यं त्वमेव,
त्वं नः प्राणा हृदयमसि नस्त्वं पतिस्त्वं गतिर्नः।
ज्ञात्वाऽपीत्थं प्रिय! परिहरन् नो न किं लज्जसे सा?,
त्वामुत्कण्ठातरलितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ११० ॥

अन्वयः—

'हे सुभग ! "त्वं नः त्राता, (त्वं) (नः) शरणम् (नः) जीवितव्यं त्वम् एव, त्वं नः प्राणाः, त्वं न हृदयम् असि, त्वं नः गतिः असि, हे प्रियतम ! इत्थं ज्ञात्वा अपि नः परिहरन् किं न लज्जसे" सा इदं त्वाम् मन्मुखेन उत्कण्ठातरलितपदं आह' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे सुभग ! "त्वं भवान् नः अस्माकं **त्राता** रक्षकः, (त्वं नः) **शरणम्** आश्रयः, (नः) **जीवितव्यम्** जीवनोद्देश्यम् **त्वम्** भवान् एव केवलः, त्वं **नः** अस्माकं **प्राणाः** प्राणवायुभूतः, त्वं **नः हृदयम्** अन्तःकरणम् **असि** भवसि त्वं **नः पतिः** स्वामी असिः, त्वं **नः गतिः** परायणम् असि, हे **प्रियतम !** प्रियेषु अतिशयित ! इत्थं पूर्वरूपेण **ज्ञात्वा** अवगत्य अपि **नः** अस्मान् **परिहरन्** परित्यजन् किं कुतः **न लज्जसे** न त्रपसे" सा कोशा इदं पूर्वोक्तम् **त्वाम्** श्रीस्थूलभद्रम् **मन्मुखेन** मद्वदनद्वारा **उत्कण्ठातरलितपदम्** उत्कण्ठया औत्सुक्येन तरलितानि चञ्चलानि पदानि यस्मिन् तद्यथा स्यात् तथा **आह** कथयति ॥

विशेषः—सा स्वयं किमपि तवाग्रे वक्तुमशक्नुवती "त्वमेव मदीयं सर्वस्वमिति बहुशोऽपि परीक्ष्य दृष्टमेव त्वयेति, तथाऽपि मम परिहार स्तव लज्जाया एव कारणं स्यादिति" मन्मुखेन त्वामाहेति ज्ञात्वा त्वया साऽवश्यं सम्भावनीयेति भावः ॥ ११० ॥

अथाऽसौ स्थूलभद्रः स्वयमेव कोशां जैनधर्मे प्रेरयति—

श्रुत्वा साधुस्तदुदितमथोवाच कोशां च भूयो,
धर्मं श्रीमज्जिननिगदितं चेद् भजेथास्त्वमार्ये ! ।
चातुर्येणाऽखिलयुवतिषु क्ष्मातले तद्विशाले,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते सुभ्रु ! सादृश्यमिति ॥१११॥

अन्वयः—

'स साधुः तदुदितम् श्रुत्वा, अथ भूयः कोशाम् उवाच, हे आर्ये ! त्वं चेत् श्रीमज्जिननिगदितं धर्मं भजेथाः, तत् हे सुभ्रु ! विशाले क्ष्मातले अखिलयुवतिषु क्वचिदपि एकस्थं चातुर्येण ते सादृश्यं न अस्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

स पूर्वोक्तः **साधुः** मुनिः श्रीस्थूलभद्रः **तदुदितम्** तस्याः सख्याः कोशायाश्च उदितम् कथनं **श्रुत्वा** निशम्य **अथ** अनन्तरम् **भूयः** पुनरपि **उवाच** जगाद हे **आर्ये !** श्रेष्ठे **त्वं** भवती **चेत्** यदि **श्रीमज्जिननिगदितं** श्रीमता जिनेन सर्वज्ञेन निगदितं प्रतिपादितं **धर्मं** सुकृतं **भजेथाः** सेवेथाः; **तत्** तर्हि **हे सुभ्रु !** शोभनभ्रुकुटिसहिते **विशाले** विस्तृते **क्ष्मातले** पृथिव्याम् **सकलयुवतिषु** सर्वत्र तरुणी-वृन्दे **क्वचिदपि** कुत्रापि **एकस्थं** एकस्मिञ्जने स्थितं **चातुर्येण** पाटवेन **ते** तव **सादृश्यं** साम्यं **न अस्ति** न विद्यते ॥

विशेषः—त्वं शरीरसौन्दर्यादिगुणैः सर्वश्रेष्ठास्येव, यदि सर्वज्ञश्रीमज्जिनेन्द्रभाषितजैनधर्ममपि स्वीकुर्याः तर्हि त्वत्सदृशी काऽपि युवतिरिह लोके चतुरा दक्षा नास्तीति विज्ञायेतेति भावः।

एष चतुर्थचरणो मेघदूते यक्षप्रियां प्रति यक्षेण संदिश्यते यत् त्वदीयाङ्गानां प्रत्येकं सादृश्यं यत्र तत्रावलोक्यतेऽपि किन्तु एकत्र त्वदीयं सर्वावयवसादृश्यं नोपलभ्यते। इहापि किञ्चिद्रूपभेदेनायमेवार्थः प्रकृतोपयोगी सम्पादित इति ॥ १११ ॥

अथात्मनः शीलसम्पत्तिमथ च स्त्रीसंपृक्तवस्तुनामपि-वर्जनीयतामाह—

तुल्यं स्त्रैणं तृणमपि च मे शुद्धशीलप्रभावात्,
प्रागासीना भवति भवती येषु येष्वासनेषु।
नेहे ब्रह्मव्रतकृतरतिस्तन्वि! तत्राऽऽसितुं तत्।
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥११२॥

अन्वयः—

शुद्धशीलप्रभावात् मे स्त्रैणं तृणाम् अपि च तुल्यम्, तत् भवती प्राक् येषु आसनेषु आसीना भवति, हे तन्वि!

ब्रह्मव्रतकृतरतिः 'पूर्वम् एभिः तव अङ्गं स्पृष्टं भवेत् किल इति तत्र आसितुं न ईहे' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

शुद्धशीलप्रभावात् शुद्धस्य निर्मलस्य शीलस्य ब्रह्मचर्यस्य प्रभावात् सामार्थ्यात् **मे** मम कृते **स्त्रैणम्** स्त्रीणां समूहः, **तृणम्** अपि घासाद्यपि **च तुल्यम्** समा नोपयोगम्, न क्वचिदपि अनयो र्मूल्ये उपयोगे वा मे मनसि तारतम्यमस्ति । **तत्** तस्मात् **भवती** कोशा **प्राक्** इतः पूर्वम् **येषु आसनेषु** आस्तरेषु **आसीना** उपविष्टा **भवति** उपविशतीति यावत्, हे **तन्वि !** कृशे ? **ब्रह्मव्रत-कृतरतिः** ब्रह्मार्थं विशुद्धज्ञानार्थं यत् व्रतं स्त्रीसम्पर्कपरिवर्जनादिकं तत्र कृता रतिः अनुरागो येन तथाभूतोऽहं, '**पूर्वम्** इतः पूर्वकाले **एभिः** आसनैः **तव** भवत्या **अङ्गं** शरीरं **स्पृष्टं** संपृक्तं **भवेत्** स्यात् **किल** निश्चयेन'' **इति** हेतोः **तत्र** आसनेषु तेषु **आसितुम् न ईहे** नेच्छामि ॥

विशेषः—तपः सेवनात् मे चारित्रं निर्मलं जातमिति तृणे स्त्रैणे च समदृष्टिः ब्रह्मचर्यव्रते कृतरतिश्चाहम् भवत्सम्पर्कगतेषु आसनेष्वपि नोपवेष्टुमिच्छामि भवत्या सहासनं तु दूरे क्षिप्तम् । अतश्च पूर्वोक्तं सर्वं प्रत्याख्यातं ज्ञेयमिति ॥ ११२ ॥

अथैवं प्रत्याख्याय तद्गेह एवाखण्डचारित्रश्चातुर्मासी-मतिवाह्याह—

चातुर्मास्यं समजनि शुभे ! पूर्णमेतत्सुखेन,
त्वद्गेहे मे समभवदहो ! शीलहानिर्न काचित् ।
यायां पादानथ निजगुरोर्वन्दितुं कर्मनाशे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥११२॥

अन्वयः—

'हे शुभे ! त्वद्गेहे मे एतत् चातुर्मास्यं सुखेन पूर्णं समजनि; काचित् शीलहानिः न समभवत् अहो ! कर्मनाशे निजगुरोः पादान् वन्दितुम् यायाम्, क्रूरः कृतान्तः तस्मिन् अपि नौ संगमं न सहते' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे शुभे ! कल्याणशीले त्वद्गेहे त्वदीयेऽस्मिन् गृहे मे मम एतत् प्रवर्तमानं चातुर्मास्यं चतुर्णां वार्षिक-मासानां समाहारः चतुर्मासी तस्याः कर्म चातुर्मास्यम् "पतिराजान्त० [७-१-७३]" इति ट्यण्, चतुर्षु वार्षिक-मासेषु विहितं कर्मेत्यर्थः सुखेन अनायासेन पूर्णम् सकलम् समजनि संजातम्, काचित् अज्ञाताऽपि शीलहानिः ब्रह्मचर्यभ्रंशः न समभवत् संजातः इति अहो ! आश्चर्यम् । अथ अतः परम् कर्मनाशे कर्मक्षये निजगुरोः

स्वगुरोः पादान् चरणान् वन्दितुं प्रणन्तुं यायाम् गच्छे-यम् । (यदि च तवापि मया सह गुरुवन्दनार्थमीहा भवेत् तन्न युक्तम् इत्याह)—क्रूरः कठोरः कृतान्तः साधुसिद्धान्तः तस्मिन् अपि गुरुपादवन्दनकर्मण्यपि नौ आवयोः संग-मम् सहगमनम् न सहते न मृष्यति ॥

विशेषः—सुखेनात्र चातुर्मास्यं मया समापितम्, शीलहानेः सर्वथा संभावनायां सत्यामपि सा न जातेत्याश्चर्यम् । चातुर्मासससमाप्तौ च गुरोः वन्दनाय तत्समीपे गमनमावश्यकम् । साधुसिद्धान्तनियमतीव्रतया च तत्र गमनेऽपि त्वया न सहगन्तुं शक्यते इति त्वमत्रैव तिष्ठेति भावः । मेघदूते च यक्षः स्वप्नेऽपि आवयोः सङ्गमं विधिर्न सहते, संगमावस्थातः पूर्वमेव निद्राभङ्गं कारयतीत्याशयेनान्त्यं चतुर्थं चरणं प्रायुंक्त; इह च प्रकरणवशादन्यार्थकता-मापादित इति कवेश्चातुरी ॥ ११३ ॥

गमनकाले धर्मोपदेशं करोति—

धर्मं तावद् भजतु भवती वीतरागप्रणीतं,
दानं शीलं तप इह शुभो भाव एवंप्रकारम् ।
गन्तव्यं वै सुतनु ? मयका प्रावृषोऽहानि नीत्वा,
दिक्संसक्तप्रविरलघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥ ११४ ॥

अन्वयः—

'भवती तावत् वीतरागप्रणीत दानं शीलं तपः शुभः भावः एवं प्रकारम् धर्मम् इह भजतु । हे सुतनु ! मयका दिक्संसक्तप्रविरलघनव्यस्तसूर्यातपानि प्रावृषः अहानि नीत्वा गन्तव्यम्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

भवती कोशा **तावत्** दीक्षायाः पूर्वं **वीतराग-प्रणीतम्** वीतः अपगतः रागो विषयासक्तिः यस्य स वीतरागः जिनेश्वरः तीर्थङ्करः तेन प्रणीतम् समुपदिष्टम् **दानं** सत्पात्रे अशन-पान-खादिम-स्वादिम-वस्त्र-पात्रादेः अथवा सत्कार्ये द्रव्यादेः वितरणं, पञ्चप्रकारकमभयादिदानं, **शीलं** ब्रह्मचर्यं अष्टादशसहस्रभेदवत् मैथुनत्यागरूपं **तपः** द्वादश-भेदरूपं पञ्चाशद्भेदरूपं वा तपः कायिक-वाचिक-मानसिक क्लेशसाध्यमिति यावत् **शुभः भावः** उत्तमः कल्याणवान् भावः आशय श्च **एवं प्रकारकम्** इत्थं रूपं **धर्मं** सुकृतम् **इह** अत्रैव स्थिता **भजतु** शीलयतु । **हे सुतनु** ! सुन्दर-शरीरे ! सुकृशे ! वा **मयका** स्थूलभद्रेण **दिक्संसक्त-प्रविरलघनव्यस्तसूर्यातपानि** दिक्षु संसक्ताः पर्यस्ता ये प्रविरला विकीर्णा घनाः मेघाः तैः व्यस्तः दूरं क्षिप्तः सूर्यातपः दिवाकरप्रतापः येषु तानि **प्रावृषः** वर्षर्तोः **अहानि**

दिनानि नीत्वा अतिवाह्य गन्तव्यम् त्वद्गृहं परित्यज्य विहारः कार्य इत्यर्थः ॥

विशेषः—पूर्वं शरीरमनसोः संशोधनार्थं दानादिरूपं जिनेन्द्रोक्तं धर्मं भवती भजतु अहं तु समाप्तेषु चातुर्मासिक-दिनेषु विहारार्थं गमिष्यामि । पश्चात् स्थिरीभूते चेतसि त्वयाऽपि धर्मोपदेशो ग्राह्य इति हृदयम् ॥ ११४॥

त्वद्विरहे दुःखितया मम कुतो धर्माचरणं संभवनेति चेदत्राह—

ज्ञाते धर्मे जिननिगदिते तेऽपि नो भावि दुःखं,
मुग्धे ! तस्मादिह परभवे लप्स्यसे त्वं च सौख्यम् ।
अस्मच्चेतो जिनमतगतं नाऽभजत् क्वापि दुःखं,
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ११५॥

अन्वय—

'हे मुग्धे ! जिननिगदिते धर्मे ज्ञाते ते अपि इह दुःखं नो भावि, तस्मात् परभवे च त्वं सौख्यं लप्स्यसे । गाढोष्माभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः अशरणं कृतम् अस्मच्चेतः जिनमतगतम् क्वापि दुःखम् न अभजत्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे मुग्धे सरले ! जिननिगदिते जिनेन सर्वज्ञेन प्रोक्ते धर्मे जैनधर्मे ज्ञाते परिचिते अभ्यस्ते च सति ते भवत्या अपि इह संसारे दुःखम् कामादि पीडा नो भावि नैव भविष्यति, तस्मात् धर्मात् कारणात् परभवे च उत्तरस्मिन् जन्मनि च त्वं भवती सौख्यं स्वर्गादिसुखमेव लप्स्यसे प्राप्स्यसि । गाढोष्माभिः गाढः घनीभूतः उष्मा तापः यासु ताभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः तव भवत्या वियोगस्य विरहस्य व्यथाभिः पीडाभिः अशरणं आश्रयहीनं कृतं विहितम् अस्मच्चेतः मदीयं मनः क्वापि कस्मिन्नपि काले देशे वा दुःखम् कष्टं न अभजत् नान्वभवत् ॥

विशेषः—ऊष्मन् शब्दो यद्यपि नान्तः पुंक्लीब लिङ्गः, तथापीह "ताभ्यां वाऽऽप् डित् [२-४-१५]" इति डिदापि गाढोष्माभिरिति साधु । यावत्त्वया धर्माचरणं ना कारि ताव देव ते चेतसि कामादिकृतं दुःखं भवति; कृते च धर्माचरणे यथा तव विरहस्य तापेन तप्तमपि मे मनो न दुःखमन्वभूत् तथा तवापि मनसि दुःखं न स्यादिति भावः ॥११५॥

पुनरपि धर्मोपदेशमेव विदधाति—

जैने धर्मे कुरु निजमति निश्चलां तन्वि ! नित्यं,
शीलं धेहीहितसुखकरं देहि दानं गुणिभ्यः ।
पापव्यापव्यतिकरजुषां धर्मभाजां च पुंसां,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥११६॥

अन्वयः—

'हे तन्वि ! जैने धर्मे नित्यं निजमतिं निश्चलां कुरु, ईहित सुखकरं शीलं धेही, गुणिभ्यः दानं देहि; पापव्यापव्यतिकरजुषां धर्मभाजां च पुंसाम् दशा चक्रनेमिक्रमेण नीचैः उपरि च गच्छति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे **तन्वि** ! कृशे ! **जैने** जिनोक्ते **धर्मे** सुकृते **नित्यं** प्रतिदिनं **निजमतिं** स्वबुद्धिम् **निश्चलां** स्थिरां **कुरु** विधेहि, **ईहितसुखकरं** करोतीति करः, ईहितस्य सुखस्य करः ईहितसुखकरः तं **शीलं** ब्रह्मचर्यं शीलव्रतं **धेहि** धारय, **गुणिभ्यः** विद्वद्भ्यः **दानं** दीयते यद् तद् दानम् दातव्यं धनानि **देहि** वितर; कुत एतदनुष्ठेयमितिचेद् अत्राह— **पापव्यापव्यतिकरजुषां** पापानां व्यापन्नं पापव्यापः भावे घञ्, तस्य व्यतिकरः सम्बन्धो व्यशनं वा तं जुषन्ति सेवन्त इति तेषां, **धर्मभाजां** धार्मिकाणां च **पुंसां** नराणाम् **दशा**

तत्फलभोगावस्था चक्रनेमिक्रमेण चक्रस्य यः नेमिः प्रान्तभागः तस्य क्रमेण परिपाट्या नीचैः अधः उपरि उर्ध्वं च गच्छति ॥

विशेषः—धर्मे बुद्धिं स्थिरीकृत्य शीलादिसम्पादनेन धर्मवृद्धा ऊर्ध्वगतिस्ते भविष्यति यतः पापिनामधोगतिः धार्मिकाणामूर्ध्वगतिः चक्रनेमिक्रमेण भवति । यस्य जीवस्य यदा पापकर्मणामुदयस्तदा तदनुकूलाऽधोगतिः, धर्मस्योदये च तदनुकूलोर्ध्वगतिरिति क्रमशः चलतीति भावः ॥११६॥

तपोऽनुष्ठातुमुपदिशन् तस्य प्रशंसामपि प्रस्तौति—

शुद्धिं भद्रे ! रचय तपसा स्वस्य तेनात्मनस्त्वं,
दृष्ट्वा क्लप्तं मुनिभिरतुलं यद् वनस्थैस्त्रिशुद्ध्या ।
हर्षेणोच्चैर्दिवि दिविषदां पुष्पवृष्ट्या समं स्राग्,
मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥११७॥

अन्वयः—

'हे भद्रे ! तेन त्वम् तपसा आत्मनः शुद्धिं रचय, वनस्थैः मुनिभिः त्रिशुद्ध्या क्लृप्तम् अतुलं यद् दृष्ट्वा, हर्षेण दिवि दिविषदां उच्चैः पुष्पवृष्ट्या समं मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः तरुकिसलयेषु स्राक् पतन्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

हे भद्रे ! कल्याणि ! तेन पूर्वोक्तेन धर्मभाजामूर्ध्वगतिरितिज्ञातेन, तपसा अशन-पान-खादिम-स्वादिम त्यागरूपोपवासादिविविधतपश्चर्यानुष्ठानैः आत्मनः स्वस्य शरीरस्य मनसः वाचश्च शुद्धिं निर्मलतां रचय विधेहि, वनस्थैः पुरं विहाय वने तिष्ठद्भिः मुनिभिः त्रिशुद्धयां त्रयाणां कायमनोवचसां शुद्धया पवित्रीकरणेन क्लृप्तं विहितं यत् तपः दृष्ट्वा समवलोक्य हर्षेण आनन्दातिरेकेण दिवि स्वर्गे दिविषदां देवानां उच्चैः उन्नतया-उत्कृष्टया वा पुष्पवृष्ट्या कुसुमवर्षणेन समं सह, मुक्तास्थूलाः मुक्तावत् मौक्तिकवत् स्थूलाः बृहन्तः अश्रुलेशाः अश्रुबिन्दवः तरुकिसलयेषु वृक्षाणां नूतनपत्रेषु स्राक् झटिति पतन्ति क्षरन्ति ॥

विशेषः—तपसा प्रथमं कायादिशुद्धिः कार्या, तदनन्तरं विहितं तपोऽभीष्टार्थसाधकं भवति, यद्दृष्ट्वा च देवा अपि हृष्यन्ति विस्मयन्ते च, तथाहि मुनिभिः त्रिशुद्धि पूर्वकं कृतमतुलं तपो दृष्ट्वा देवाः पुष्पवृष्टिमानन्दाश्रूणि च वर्षन्ति । तथा च तपसः साफल्याय पूर्वं तपोऽनुष्ठानेनात्मशुद्धिरेव विधेयेति तात्पर्यम् ॥ ११७ ॥

अथ प्रबुद्धा कोशोवाच—

कोशा प्रोचे प्रिय! विगलिता साऽद्य मे भोगतृष्णा,
वाक्यैरेभिस्तव हृदि निजे या मयेत्थं धृताऽभूत्।
आवां भूयो विरहविगमे भोगभङ्गीं विचित्रां,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥११८॥

अन्वयः—

'कोशा प्रोचे—हे प्रिय! या मया निजे हृदि धृताऽभूत् सा मे भोगतृष्णा अद्य इत्थम्—एभिः तव वाक्यैः विगलिता, आवां विरह विगमे परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु विचित्रां भोगभङ्गीं भूयः निर्वेक्ष्यावः' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

कोशा नायिका प्रोचे प्रत्युत्तररूपेणोक्तवती किमित्याह—हे प्रिय! स्वामिन्! या भोगतृष्णा मया कोशया निजे स्वीये हृदि अन्तःकरणे धृता स्थापिता अभूत् आसीत् सा मे मम भोगतृष्णा भोगेषु आहार विहारादि विशेषोपयोगेषु या तृष्णा तीव्रोऽभिलापः अद्य अस्मिन् दिवसे इत्थं पूर्वप्रकारोक्तैः एभिः सम्प्रत्येव श्रुतैः तव भवतः वाक्यैः उपदेशवचनैः विगलिता नष्टा। आवाम् अहं च त्वञ्च विरह वगमे वियोगकाले व्यतीते परिणतशरच्चन्द्रिकासु परिणता परिणामं पूर्तिं प्राप्ता शरदः

ऋतोः चन्द्रिका कौमुदी यासु तासु क्षपासु रात्रिषु विचित्रां अद्भुतां भोगभङ्गीं भोगानां स्रक्चन्दनाद्युपयोगानां भङ्गीं परिपाटीं निर्वेक्ष्यावः अनुभविष्यावः ॥

विशेषः—भवद् वाक्यै में भोगतृष्णा ममाप्ता, तथापि अयमस्त्येवाभिलाषो यदिह जन्मनि आवाभ्यां तपस्तप्त्वा तथा सुकृतमर्जनीयं येनापरस्मिन् भवे पुनः संयुक्तावावां नानाविधान् भोगान् भोक्ष्याव इति ॥ ११८ ॥

कोशाकामविकारशान्त्यर्थं धर्मोपदेशं प्रार्थयते—

स्वामिन् ! धर्माऽमृतरसमयं देहि दिव्यौषधं तद्,
येनायं मे तुदति न मनो मन्मथाख्यो विकारः।
त्वद् वाक्येनोज्झितविषयया यद्वशादद्य रात्रौ,
दृष्टः स्वप्नेऽकितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥११९॥

अन्वयः—

'हे स्वामिन् ! धर्मामृतरसमयं तद् दिव्यौषधं देहि, येन अयं मन्मथाख्यः विकारः मे मनः न तुदति, हे अकितव ! यद् वशात् अद्य रात्रौ त्वद् वाक्येनोज्झितविषयया मया त्वम् स्वप्ने कामपि रमयन् दृष्टः' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे स्वामिन् ! **धर्मामृतरसमयं** धर्म एवामृतरसः अमृतस्यापि सारभूतः पदार्थः तन्मयम् तद्प्रचुरम् तद् प्रसिद्धं **दिव्यौषधं** दिवि भवम् दिव्यं तदौषधम् अगदं **देहि** वितर ! **येन** औषधेन **अयं** प्रत्यक्षमनुभूयमानः **मन्मथाख्यः** मन्मथ नामा **विकारः** शरीरस्य विकृति रूपः **मे** मम **मनः** चित्तं **न तुदति** न व्यथयति, हे **अकितव** ! अवञ्चक ! **यद् वशात्** यस्य मन्मथाख्य विकारस्य वशात् कारणात् **अद्य रात्रौ** अस्यामव्यहित व्यतीतायां निशि **त्वद् वाक्ये-नोज्झितविषयया** त्वदीयेन धर्मोपदेशमयेन वाक्येन परित्यक्तकामोपभोगयाऽपि **मया कोशया त्वम्** भवान् **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायाम् **कामपि** मदतिरिक्तां **रमणीं** **रमयन्** रतिं कारयन् **दृष्टः** अवलोकितः ॥

विशेषः—त्वद् वाक्येन मया विषयपरित्यागस्तु कृतः, परं कामो मे मनो न त्यजति, यत् प्रमाणं चैतद् यदद्यापि रात्रौ स्वप्ने मया तवान्यवनितया सह सङ्गमोऽवलोकितः । यादृशी वासना हृदि भवति तादृशमेव स्वप्नं पश्यति जन इति प्रसिद्धम् । तथा चैषा कामवासनाऽपि मम हृदये न तिष्ठेत् तदुपायभूतं धर्मोपदेशं कुरु पश्चाद् गन्तव्यं भवतेति भावः ॥ ११८ ॥

अथासौ कोशाया भक्तिभावमवलोक्य प्रसन्नो नमस्कार-मन्त्रं प्रादादित्याह—

इत्युक्तोऽसौ चरणनतया कोशया भक्तिपूर्वं,
त्वद् वृत्तेन प्रमुदितमनाः सादरं साधुराजः ।
प्रादादस्यै भवभयहरं स्वं नमस्कारमन्त्रं,
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥१२०॥

अन्वयः—

'चरणनतया कोशया भक्तिपूर्वम्—इति उक्तः असौ, तद् वृत्तेन प्रमुदितमनाः साधुराजः अस्यै भवभयहरं स्वं नमस्कारमन्त्रं सादरं प्रादात्, हि ईप्सितार्थक्रिया एव सतां प्रणयिषु प्रत्युक्तम् भवति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

चरणनतया स्वपादपर्यन्तं नम्रीभूतया कोशया वेश्यया भक्तिपूर्वम् श्रद्धासहितम् इति पूर्वोक्तप्रकारेण उक्तः प्रार्थितः असौ पूर्वानुसृतवृत्तः, तदवृत्तेन तस्याः कोशाया वृत्तेन आचरणेन प्रमुदितमनाः प्रसन्नचेताः साधुराजः साधूनां राजेव मुख्य इवेति साधुराजः श्रीस्थूल-भद्रमुनिवरः अस्यै कोशायै भवभयहरं संसारभीतिनिवारकं स्वं स्वेनपरिशीलितं नमस्कारमन्त्रं नमस्काराख्यं सुप्रसिद्धं

महामन्त्रं सादरम् आदरसहितं प्रादात् उपदिदेश, हि यतः ईप्सितार्थक्रिया ईप्सितस्य प्राप्तुमभिलषितस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य क्रिया सम्पादनम् एव केवलम्, सतां सज्जनानाम् प्रणयिषु स्निग्धजनेषु प्रत्युक्तम् प्रतिवचनम् भवति ॥

विशेष—एवं निश्छलहृदयेन श्रद्धापूर्वकं प्रार्थितः श्रीस्थूलभद्रो मुनिप्रवरः किञ्चिदन्यत् प्रतिवचनमनुक्त्वा केवलं श्रीनमस्कारमहामन्त्रमेव सद्य उपदिदेश। प्रत्युत्तरमनुक्त्वा प्रार्थितार्थपूर्त्तिरेव या कृता तामर्थान्तरन्यासेन समर्थयति। यत् सज्जनाः प्रणयिभिः प्रार्थितं कार्यमेव कुर्वन्ति न तु वचनरूपेण प्रत्युत्तरयन्तीति। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः सामान्येन सज्जनव्यवहारप्रदर्शनेन श्रीनमस्कारमहामन्त्रदानकार्यस्य विशेषरूपस्य समर्थनात् ॥ १२० ॥

अथापरमप्युपदेष्टव्यमुपदिशति—

तामूचेऽसौ मनसि सततं मन्त्रमेनं स्मर त्वं,
नित्यं भक्त्या त्रिभुवनगुरोर्जन्म सार्थं सृज स्वम्।
शीलेनाऽलं विमलममले! जैनधर्मं भजेथाः,
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥१२१॥

अन्वयः—

'असौ ताम् ऊचे—त्वं त्रिभुवन गुरोः एनं मन्त्रं भक्त्या नित्यं सततं स्मर, स्वं जन्म सार्थं सृज, हे अमले! विमलं जैनधर्मं शीलेन अलं भजेथाः, प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

असौ श्रीस्थूलभद्रो मुनिप्रवरः ताम् कोशाम् ऊचे जगाद, किमित्याह—त्वं कोशा त्रिभुवनगुरोः त्रयाणां भुवनानां लोकानां समाहारः त्रिभुवनं तस्य गुरोः धर्मोपदेशकस्य एनं पूर्वोपदिष्टम् मन्त्र श्रीनमस्कारमहामन्त्रं भक्त्या श्रद्धया नित्यं प्रतिदिनं सततं सर्वस्मिन् काले स्मर ध्यायस्वः स्वं निजं जन्म शरीर धारणं सार्थं सफलं सृज विधेहि। हे अमल! निर्मले विमल सर्वदोषशून्यं जैनधर्मं जिनोपदिष्टं धर्मं शीलेन चारित्रानुशीलेनेन सह अलं अत्यन्तं भजेथाः सेवेथाः, प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं प्रातः प्राभातिकः कुन्दप्रसवः कुन्दाख्यपुष्पं तद्वत् शिथिलं सद्यः पतन धर्मि जीवितं जीवनं धारयेथाः बिभृयाः॥

विशेषः—प्रतिदिनमिमं मन्त्रं स्मरन्ती, तेन च जन्म सार्थयन्ती शीलरक्षापूर्वकं धर्ममनुतिष्ठन्ती सततं संभावितनाशं जीवनं यावच्छक्यं धारयेथाः इत्येष एव उपदेशः पर्याप्त

इति भावः । मेघदूते च यक्षेण प्रियायै स्वा गमनकालं यावज्जीवितधारणाय सन्दिष्टोऽयं चतुर्थश्चरणोऽत्रापि तदर्थ एव योजित इत्यनवद्यम् । अत्रापि श्रीस्थूलभद्रमुनिप्रवरस्यायं सन्देह आसीत् । यदियं कदाचिन्मद्विरहे जीवितमेव परित्यजेदिति जीवितधारणोपदेशः कृतः । बहुकालं जीवन्त्या च धर्मानुष्ठानेन पुण्यबाहुल्यार्जनसम्भावनेति तस्याभिप्रायः प्रकाशितो भवति ॥ १२१ ॥

अथ तस्याः कृतकृत्यतामाह—

धन्यं मन्या मुनिवचनतोऽङ्गीचकाराऽखिलं तत्,
प्रीतिं भेजे मनसि परमां साऽऽप्तसम्यक्त्वलाभा ।
दुष्टे द्वेषं गुरुनिगदिता यान्ति धर्मोपदेशा,
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥१२२॥

अन्वयः—

'आप्त सम्यक्त्वलाभा सा धन्यंमन्या मुनिवचनतः अखिलं तत् अङ्गीचकार, मनसि परमां प्रितिं भेजे । गुरु निगदिता धर्मोपदेशाः दुष्टे द्वेषं यान्ति, इष्टे वस्तुनि उपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

आप्तसम्यक्त्वलाभा: सम्यक्त्वस्य सम्यग्दर्शनस्य-लाभः प्राप्तिः सम्यक्त्वलाभः आप्तः अधिगतः सम्यक्त्व-लाभो यया सा आप्त सम्यक्त्वलाभा सा कोशा धन्यंमन्या आत्मानं धन्यां मन्यते इति धन्यं मन्या "कर्तुः खश् [५-१-११७]" इति खशि "खित्यनव्ययारुषो मोऽन्तो ह्रस्वश्च [३-२-१११]" इति मान्तत्वे ह्रस्वे च धन्यं मन्येति। मुनिवचनतः मुनिवाक्यात् अखिलं सर्वं तत् साधूपदिष्टम् अङ्गीचकार स्वीचकार। धन्यं मन्यत्वपूर्वकं स्वाकारमर्था-न्तरन्यासेन समर्थयति—गुरुनिगदिताः गुरुभिरुक्ताः धर्मोपदेशाः धर्मस्य सुकृताचरणस्य उपदेशाः आद्योच्चार-णानि दुष्टे दुःशीले जने द्वेषं वैररूपतां यान्ति प्राप्नुवन्ति, इष्टे समुचिते प्रीतिपात्रे वा वस्तुनि पदार्थे शिष्यरूपे उपचितरसाः उपचितः वृद्धिगतः रस आस्वादः परिणामो वा येषां तथाभूताः प्रेमराशीभवन्ति स्नेहसंघाततां यान्ति॥

विशेषः—उपदेशानन्तरं श्रीस्थूलभद्रमुनिप्रवर समीपे तस्याः सम्यक्त्वपूर्वकं द्वादशव्रतपालनार्थं प्रतिज्ञा कृता। सम्यक्त्वञ्चेत्थं परिभाषितम्—

"देवत्वधीर्जिनेष्वेव, मुमुक्षुषु गुरुत्वधीः।
धर्मधीरर्हतां धर्मे, तत्स्यात् सम्यक्त्वदर्शनम्॥" इति।

ततश्च गुरूक्तं सर्वमङ्गी चकार। गुरूपदेशेन कृत-कृत्यता ज्ञानपूर्वकं तत्स्व काररूपं विशेषमर्थं सामान्येन दुष्ट-जनेषु गुरूपदेशस्य द्वेषरूपतायाः, सुहृत्सु च स्नेहरूपतायाः कथनेन समर्थितमित्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। इयं चात्मनः सुहृदं मन्यते श्रीस्थूभद्रमुनिप्रवरमिति तद्वचनं स्नेहवतस्वीच-कारेति ॥ १२२ ॥

अथ गन्तुकामोऽसौ शुभाशिषा तां समाजयति—

भद्रे ! भद्रं भवतु सततं ते जिनेन्द्रप्रसादाद्
नन्तुं पादानथ निजगुरोरेष यास्यामि शस्यान्।
ध्यायन्त्यै श्रीजिनपरिवृढं शीलरत्नेन शश्वद्
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—

'हे भद्रे ! ते जिनेन्द्रप्रसादात् सततं भद्रं भवतु। अथ एषः शस्यान् निजगुरोः पादान् नन्तुं यास्यामि। एवं श्रीजिनपरिवृढं शश्वत् ध्यायन्त्यै ते विद्युता शीलरत्नेन क्षणम् आपि विप्रयोगः' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

हे भद्रे ! कल्याणि ! ते भवत्याः जिनेन्द्रप्रसादात् जिनेन्द्रस्य जिनश्रेष्ठस्य तीर्थङ्करस्य प्रसादात् प्रीतेः कारणात्

भद्रं कल्याणं भवतु जायताम् । अथ एतदनन्तरम् एषः अहम् शस्यान् प्रशंसनीयान् निजगुरोः स्वगुरोः दीक्षा-दायकश्रीसम्भुतिविजय नाम्नः सद्गुरोः पादान् चरणान् नन्तुं वन्दितुं यास्यामि गमिष्यामि । एवं पूर्वोक्तरूपं श्रीजिनपरिवृढं श्रियायुक्तं जिनपरिवृढं जिनश्रेष्ठ शश्वत् सर्वदा ध्यायन्त्यै स्मरन्त्यै ते तुभ्यं विद्युना विद्योतते सुप्रकाशते इति विद्युत् तथाभूतेन शीलरत्नेन ब्रह्मचर्यरूपेण रत्नेन मणिना विप्रयोगः विरहितत्वं माभूत् न स्यात् ॥

विशेषः—तवापि धर्माचरणशीलायाः कल्याणं भवतु, अहमपि गुरुपादवन्दनार्थं गमिष्यामि । एवम्प्रकारेण श्री-जिनेन्द्रदेवध्यानपराया स्तव शीलं सुरक्षितं भूया-दित्याशीः ॥ १२३ ॥

अथ श्रीस्थूलभद्रस्य प्रस्थानमाह—

नीत्वा मासानथ स चतुरस्तत्र शश्वच्छीलशाली
गत्वा सूरीन् समयचतुरो भूरिभक्त्या ववन्दे ।
तस्थौ गेहे मनसि दधती सा सुखं जैनधर्मं,
केषां न स्यादभिमतफला प्राथना ह्युत्तमेषु ?॥१२४॥

अन्वयः—

'अथ सच्छीलशाली समयचतुरः स तत्र चतुरः मासान् नीत्वा सूरीन् गत्वा भूरि भक्त्या ववन्दे। मनसि जैनधर्मं दधती सा गेहे सुखं तस्थौ, हि केषाम् उत्तमेषु प्रार्थना अभिमतफला न स्यात्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

अथ एतावदालापनन्तरम् **सच्छीलशाली** सता शोभमानेन शीलेन ब्रह्मचर्येण शालते शोभते, तच्छील इति सच्छीलशाली, **समयचतुरः** समये स्वसाम्प्रदायिकाचारे चतुर निपुणः **सः** स्थूलभद्रः **तत्र** कोशागृहे **चतुरः** चतुःसंख्याकान् **मासान् नीत्वा** अतिवाह्य, **सूरीन्** आचार्यान् **गत्वा** प्राप्य **भूरिभक्त्या** बहुतर श्रद्धया **ववन्दे** प्रणताम्। **मनसि** चेतसि **जैनधर्मं** आर्हतं धर्मं **दधती** धारयन्ती **सा** कोशा **गेहे** स्वगृह एव **सुखं** कामपीडादिरहितं यथा स्यात् तथा **तस्थौ** न्यवसत्, **हि** यतः **केषां** जनानाम् **उत्तमेषु** श्रेष्ठजनेषु (कृता) **प्रार्थना** याचना **अभिमतफला** अभिमतमिष्टं फलं परिणामो यस्याः तादृशी **न स्यात्** न भवेत्, अपि तु स्यादेवेति भावः॥

विशेषः—वेश्या गेहेऽपि स्थितः शीलं रक्षयिष्यामित्यभिग्रहमुपादायैव गुरोः सकाशादायं चतुर्मासीं कोशागृहे

याययितुमागतः। दृढब्रह्मचर्या श्च तया बहुधा याचितोऽपि शीलं न जहौ, प्रत्युततामेव शीलवतीं चकार। इत्थं स शीलेन शोभमान एव गुरून् वन्दितु गतः। साऽपि शील-शालिनी जाता, तत्र च श्रीस्थूलभद्रमुनिप्रवरे कृता प्रार्थनैव कारणमिति विशेषोऽयमर्थः सामान्येन उत्तमेषु प्रार्थनायाः साफल्यकथनेन समर्थित इत्यर्थान्तर न्यासालङ्कारः ॥१२४॥

अथोभयोरग्रिमं जीवनवृत्तमाह—

यात्वा पारं समयजलधेः स्थूलभद्रः स भेजे,
सूरीशत्वं भुवि जनमनो रञ्जयामास कामम्।
हित्वा तत्त्वामृततररसैः साऽपि चित्तं स्वमिद्धा-
निष्टान् भोगानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१२५॥

अन्वयः—

'सः स्थूलभद्रः समयजलधेः पारं यात्वा सूरीशत्वं भेजे, कामं जनमनः रञ्जयामास, साऽपि इद्धान् इष्टान् भोगान् हित्वा स्वं चित्तं तत्त्वामृततररसैः अविरतसुखं शश्वत् भोजयामास' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

सः पूर्वोक्तः स्थूलभद्रः तन्नाम्नः सुप्रसिद्धः श्रीस्थूलभद्रो मुनिप्रवरः समयजलधेः आचारसमुद्रस्य पारम्

पर्यन्तं **यात्वा** प्राप्य, आचारान् सम्यक् परिसमाप्येति यावत् **सूरीशत्वं** आचार्यपदवीं **भेजे** प्राप्तवान्, **कामम्** अत्यन्तं **जनमनः** लोकचेतांसि **रञ्जयामास** प्रीणयामास। **सापि** कोशापि **इद्धान्** समृद्धान् **इष्टान्** पूर्वमभिमतान् **भोगान्** स्रक्चन्दनोत्तमशयनाशनादिकोपयोगान् **हित्वा** परित्यज्य **स्वं** निजं **चित्तं** हृदयं **तत्त्वामृततररसैः** तत्त्वस्य धार्मिकतत्त्वज्ञानरहस्यस्य **अमृततरैः** अमृतादप्यधिकैः **रसैः** आस्वादानुभवैः **अविरतसुखम्** अविच्छिन्नमानन्दं **शश्वत्** सर्वदा **भोजयामास** अनुभावयां चकार ॥

विशेषः—स स्थूलभद्रः साधुपरिपालनीयाचारसमुद्रस्य पारं प्राप्य क्रमशः सूरिपदं प्राप्य धर्मोपदेशादिभिः सकललोकमनो रञ्जने प्रवृत्तः। कोशाऽपि स्वचित्तं सांसारिक सुखेभ्योऽपवार्य तात्त्विकसुखानुभवे योजयामास। सांसारिकसुखानुभवजन्या च चेतसः क्षणिका तृप्तिः तत्त्वामृतरसोपभोगजन्या च तृप्तिरनपायिनीतिभावः। समाप्ता चात्र मेघदूतीय चतुर्थचरणसमस्यापूर्त्तिः ॥ १२५ ॥

अथ श्रीस्थूलभद्रमुनिप्रवरकृतं धर्मप्रचारमाह—

कुर्वन्नुर्वीवलयमखिलं जैनधर्माऽनुरक्तं,
व्यक्तं चित्रं विदधदतुलं शीलशक्त्या त्रिलोक्याम्।

भूमीपीठे स्मरहठहरो दीर्घकालं विहारं,
चक्रे वक्रेतरमतिरसौ स्थूलभद्रो मुनीन्द्रः ॥१२६॥

अन्वयः—

'वक्रेतरमतिः स्मरहठहरः असौ स्थूलभद्रः मुनीन्द्रः अखिलम् उर्वीवलयम् जैनधर्मानुरक्तम् कुर्वन्, शीलशक्त्या त्रिलोक्याम् अतुलं चित्रं व्यक्तं विदधत् भूमीपीठे दीर्घकालं विहारं चक्रे' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

वक्रेतरमतिः वक्रात् कुटिलात् इतरा भिन्ना-सरला मतिः बुद्धि यस्य सः, स्मरहठहरः स्मरस्य कामस्य हठं दुराग्रहं हरति नाशयतीति सः, असौ पूर्वोक्त चरितः स्थूलभद्रः तन्नामा मुनीन्द्रः मुनिषु इन्द्रः मुनीन्द्रः साधुश्रेष्ठः अखिलम् सम्पूर्णम् उर्वीवलम् भूमण्डलम् जैनधर्मानुरक्तम् आर्हतधर्मानुरागि कुर्वन् विदधत्, शीलशक्त्या ब्रह्मचर्यप्रभावेण त्रिलोक्याम् त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी तस्याम्, अतुलम् अनुपमम् चित्रम् अद्भुतम् व्यक्तं प्रकटं यथा स्यात् तथा विदधत् कुर्वन् भूमिपीठे पृथ्वीतले दीर्घकालं बहुसमयं यावत् विहारं भ्रमणं चक्रे कृतवान् ॥

विशेषः—चतुर्दशपूर्वी महाज्ञानी कामजयी आर्य श्री-स्थूलभद्रमुनिः पृथ्वीतले सर्वज्ञभाषितश्री जैनधर्मप्रचारं विदधत् शीलबलेन लोके आश्चर्यं वितन्वन् बहुकालं यावद् विजहार॥ १२६ ॥

अथास्य स्वर्गप्राप्तिमाह—

सच्चारित्रं यतिपतिरसौ कर्मवल्लीलवित्रं,
दीर्घं कालं कलितविमलज्ञानदानः प्रपाल्य।
भेजे स्वर्गं त्रिदशललनालोचनाब्जाऽर्कतुल्यो,
निःशल्यान्तर्निरुपमसुखं वीतनिःशेषदुःखम् ॥१२७॥

अन्वयः—

'कलितविमलज्ञानदानः असौ यतिपतिः कर्मवल्लीलवित्रम् सच्चारित्रं दीर्घं कालं प्रपाल्य, त्रिदशललनालोचनाब्जाऽर्कतुल्यः निःशल्यान्तर्निरुपमसुखम् वीतनिःशेषदुःखं स्वर्गं भेजे' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

कलितविमलज्ञानदानः कलितं विहितं विमलज्ञानस्य दानं येन सः असौ पूर्वोक्तः यतिपतिः मुनीन्द्रः कर्मवल्लीलवित्रम् कर्माण्येव वल्ल्यः लता तस्य लवित्रम्

भेदकम् सच्चारित्रम् शुभसंयमं दीर्घं कालं बहुसमयं यावत् प्रपाल्य पालयित्वा, त्रिदशललनालोचनाब्जार्कतुल्यः त्रिदशललनानां सुखनितानां लोचनान्येव नेत्राण्येव अब्जानि कमलानि तेषां कृते अर्कतुल्यः सूर्यसदृशः यथाऽब्जानि सूर्योदयेऽतिविकसानि भवन्ति तथैव श्रीस्थूलभद्रमुनीन्द्रं स्वर्गमागच्छन्तं दृष्ट्वा सुखनितानां लोचनानि विकसितानीति भावः निःशल्यान्तर्निरुपमसुखम् निःशल्यम् निरुपद्रव्यम् अन्तः अन्तःकरगस्य निरुपमम् अतुलं सुखं यत्र तम्, वीतनिःशेषदुःखम् वीतम् अपगतम् निःशेषं सकलं दुःखं यत्र तम् स्वर्गं देवलोकं भेजे प्राप ॥

विशेषः—यावज्जीवं विमलज्ञानं वितरन् विशुद्धसंयममनुपाल्य प्रान्ते समाधिपूर्वकं मृत्वा श्रीस्थूलभद्रो मुनिप्रवरः स्वर्गं जगाम ॥ १२७ ॥

अथ कोशायाः स्वर्गप्राप्तिमाह—

कोशाऽपि श्रीजिनमतरता शीलमाराध्य सम्यक्,
पत्युः स्नेहादिव दिविषदां धाम सा स्राग् जगाम।
आपद् व्यापद्रहितमतुलं तत्र सातं विशेषा-
दत्राऽमुत्र प्रदिशति सुखं प्राणिनां जैनधर्मः ॥१२८॥

अवन्यः—

'श्रीजिनमतरता सा कोशा अपि सम्यक् शीलम् आराध्य, पत्युः स्नेहात् इव स्राक् दिविपदां धाम जगाम। तत्र व्यापद्रहितम् अतुलं सातं विशेषात् आपत्, जैनधर्मः प्राणिनाम् अत्र अमुत्र सुखं प्रदिशति' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

श्रीजिनमतरता श्रियायुतं जिनमतं श्रीजिनमतं विश्वविख्यातः श्रीजैनधर्मः तत्र रता अनुरागिणी **सा** पूर्वोक्ता **कोशा अपि** गणिका वेश्या अपि **सम्यक्** यथोचितम् **शीलम्** शीलगुणोपेतद्वादशव्रतं देशविरतिं **आराध्य** संसेव्य **पत्युः** स्वामिनः श्रीस्थूलभद्रस्य **स्नेहात्** प्रेम्ण **इव** इत्युत्प्रेक्षायाम् **स्राक्** झटिति **दिविषदां** देवानां **धाम** स्वर्गं **जगाम** ययौ। **तत्र** स्वर्गे देवलोके **व्यापद्रहितम्** व्यापद्-दुःखं तेन रहितं शून्यम् **अतुलं** निरुपमं **सातम्** सुखम् **विशेषात्** साधारण स्वर्गिभ्यो विशिष्टतया **आपत्** प्राप्नोत्, **जैनधर्मः** आर्हतधर्मः **प्राणिनाम्** जीवानाम् **अत्र** इहलोके **अमुत्र** परलोके परस्मिन् भवे च **सुखं** कल्याणं **प्रदिशति** ददाति ॥

विशेषः—दुष्करदुष्करकारक—आर्यश्रीस्थूलभद्रसद्गुरु सदुपदेशानुसारं सर्वज्ञश्रीतीर्थङ्करभगवत्भाषित जैनधर्मानुराग-

पूर्वकं शीलगुणोपेतद्वादशव्रतं विधिवत् पालयित्वा कोशा वेश्याऽपि प्रान्ते स्वर्ययौ, तत्रानुपमं दिव्यसुखं च लेभे। स्वर्गगमने हेतुरुत्प्रेक्ष्यते पत्युः स्नेहादिवेति।

आर्यश्रीस्थूलभद्रमुनीन्द्रः पूर्वमेव स्वर्गं गतः, स चास्मत्पतिरिति तत्परिचर्यार्थं मयाऽपि तत्र गन्तव्यमिति प्रेमभावादिवेति। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। अस्याः स्वर्गप्राप्तौ च हेतुमाह—सर्वज्ञकथित स्याद्वादरूपश्रीजैनधर्म उभयलोकसुखद इति। वाक्यस्यास्य हेतुरूपत्वेन काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १२८ ॥

अथ ग्रन्थकर्त्ता स्वपरिचयार्थं गुरुपरिचयमाह—

तारायन्ते ततमतिभृतोऽप्यन्यतीर्थ्या इदानीं,
विश्वे विश्वे खलु यदमलज्ञानभानुप्रभायाम्।
सोऽयं श्रीमानवनिविदितो रत्नसिंहाख्यसूरि-
र्जीयाद् नित्यं नृपतिमहितः सत्तपोगच्छनेता ॥१२९॥

अन्वयः—

'यदमलज्ञानभानुप्रभायाम् इदानीं विश्वे ततमतिभृतः अपि विश्वे अन्यतीर्थ्याः तारायन्ते खलु, सः अयम् श्रीमान् अवनि विदितः नृपतिमहितः सत्तपोगच्छनेता रत्नसिंहाख्यसूरिः नित्यं जीयात्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

यदमलज्ञानभानुप्रभायाम् यस्य रत्नसिंहसूरेः अमलं निर्मलं ज्ञानमेव भानुः सूर्यः तस्य प्रभायाम् प्रकाशे इदानीं सम्प्रति **विश्वे** संसारे **ततमतिभृतः** तता विस्तृता मतीः बुद्धीः बिभ्रति इति तथा भूता अपि **विश्वे** सर्वे **अन्यतीर्थ्याः** अन्यसम्प्रदायलोकाः **तारायन्ते** नक्षत्राणीव प्रतीयन्ते **खलु** निश्चयेन **सः अयम्** प्रसिद्धः **श्रीमान्** श्रियायुतः **अवनिविदितः** भूतलप्रसिद्धः **नृपतिमहितः** नृपतिभिः नरेन्द्रैः महितः पूजितः **सत्तपोगच्छनेता** सतः प्रवर्तमानस्य तपोगच्छस्य श्रीजैनश्वेताम्बरमूर्त्तिपूजकसाधु-सम्प्रदाय विशेषस्य नेता नायकः **रत्नसिंहाख्यसूरिः** रत्नसिंह नामा आचार्यः **नित्यं** प्रतिदिनं **जीयात्** सर्वाभि-भावको भूयात् ॥

विशेषः—यथा भानोः प्रभायाम् तारा न प्रकाशन्ते तथा यदीय ज्ञानज्योतिषि दीप्ते सम्प्रदायान्तरलोकाः मन्द-तेजसो भवन्ति । सुप्रसिद्धो राजपूजित श्च तपोगच्छसम्प्रदाय-नायकःआचार्यश्रीरत्नसिंहसूरिः विजयताद् । तस्य सर्वो-त्कृष्टत्वख्यापनेन तं प्रति प्रणतोऽस्मीति नमस्कारो व्यज्यते । तारायन्त इत्यत्र लुप्तोपमा । 'ज्ञानभानु' पदे च रूपकम् ॥ १२६ ॥

अथात्मानमपि प्रकाशयन् ग्रन्थस्य प्रचारं कामयते—

शिष्योऽमुष्याऽखिलबुधमुदे दक्षमुख्यस्य सूरे-
श्चारित्रादिर्धरणिवलये सुन्दराख्याप्रसिद्धः ।
चक्रे काव्यं सुललितमहो ! शीलदूताभिधानं,
नन्द्यात् सार्धं जगति तदिदं स्थूलभद्रस्य कीर्त्या ॥१३०॥

अन्वयः—

दक्षमुख्यस्य अमुष्य सूरेः शिष्यः धरणिवलये चारित्रादिः सुन्दराख्या प्रसिद्धः सुललितं शीलदूताभिधानं काव्यं बुधजनमुदे चक्रे अहो; तत् इदं स्थूलभद्रस्य कीर्त्या सार्धं नन्द्यात्' इत्यन्वयः ।

व्याख्या—

दक्षमुख्यस्य दक्षेषु चतुरेषु मुख्यस्य प्रधानस्य अमुष्य पूर्वकथितस्य श्रीरत्नसिंहस्य सूरेः आचार्यस्य शिष्यः अन्तेवासी दीक्षितो वा धरणिवलये पृथ्वीमण्डले चारित्रादिः चारित्रशब्द आदौ यस्य सः सुन्दराख्या प्रसिद्धः 'सुन्दर' इति नाम्ना ख्यातः 'चारित्रसुन्दर' इति यावत् सुललितं सुमनोहरम् शीलदूताभिधानम् [शील-दूतम् (इति) अभिधानं नाम यस्य तत् काव्यं खण्डकाव्यं

बुधजनमुदे बुधजनानां विदुषां मुदे हर्षाय चक्रे कृतवान्
अहो ! अद्भुतम्; तदिदं काव्यम् स्थूलभद्रस्य काव्ये
कीर्तितस्य मुनेः कीर्त्या यशसा सार्द्धं सह नन्द्यात्
समृद्धि-प्रसिद्धिं वा गच्छेत् ॥

विशेषः—श्रीवृहत्तपोगच्छनायकभट्टारकाचार्यश्रीरत्नसिंह-सूरिशिष्यः वाचकश्रीचारित्रसुन्दरगणिवरः काव्यमिदं केवलं बुधजनपरितोषाय कृतवान्, न तु निजपाण्डित्य ख्यापनाय, अत्र च कीर्त्तितः दुष्करदुष्करकारक-श्रीस्थूलभद्रमुनीन्द्रः इति तस्यैव पुण्येन तत्कीर्त्तिः समृद्धिं गमिष्यतीति तया सह सम्बद्धमिद मपि काव्यं प्रसिद्धिं गच्छेदित्यहं सम्भावये इति तात्पर्यम् ॥ १३० ॥

काव्यनिर्माणस्थानं समयं च निर्दिशति--

द्रङ्गे रङ्गै रतिकलतरे स्तम्भतीर्थाऽभिधाने,
वर्षे हर्षाज्जलधिभुजगाऽम्भोधिचन्द्रे प्रमाणे ।
चक्रे काव्यं वरमिह मया स्तम्भनेशप्रसादात्,
सद्भिः शोध्यं परहितपरैरस्तदोषैरसादात् ॥१३१॥

इति श्रीवृहत्तपोगच्छनायकभट्टारकश्रीरत्नसिंहसूरिशिष्योपाध्याय श्रीचारित्रसुन्दरगणिविरचितं शीलदूताभिधानं समस्यामयं काव्यं समाप्तम् ।

अन्वयः—

'रङ्गैः अतिकलतरे स्तम्भतीर्थाभिधाने इह द्रङ्गे जलधिभुजगाम्भोधिचन्द्रे प्रमाणे वर्षे स्तम्भनेशप्रसादात् हर्षात् वरं काव्यं मया चक्रे, (तत्) परहितपरैः अस्त दोषैः सद्भिः असादात् शोध्यम्' इत्यन्वयः।

व्याख्या—

रङ्गैः नाट्यशालागृहैः अतिकलतरे अतिशयमधुरे स्तम्भतीर्थाभिधाने स्तम्भतीर्थम् [सम्प्रति 'खम्भात'] इत्यभि धानमस्य तस्मिन् इह अत्र द्रङ्गे नगरे जलधिभुजगाम्भोधिचन्द्रे जलधयः सागराः (चत्वारः ४ सप्त ७ वा) भुजगा नागाः (अष्टौ ८) अम्भोधयः समुद्राः (चत्वारः ४) चन्द्रः शशी (एकः १) अङ्कानां वामतो गतिरिति नयात् १४८४ चतुरशीत्यधिक चतुर्दशशतानि, १४८७ सप्ताशीत्यधिकचतुर्दश शतानि वा यस्मिन् तादृशे प्रमाणे कालमाने वर्षे विक्रमवत्सरे स्तम्भनेशप्रसादात् स्तम्भनेशस्य श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथभगवतः प्रसादात् कृपातः हर्षात् आनन्दातिरेकात् वरं श्रेष्ठं काव्यं शीलदूतम् मया वाचकश्रीचारित्र सुन्दरगणिना चक्रे कृतम् (तत्) परिहितपरैः परोपकारनिरतैः अस्तदोषैः ईर्ष्यामत्सरादिदोषशून्यैः सद्भिः सज्जनैः असादात् अखेदात् शोध्यम् परिशोधनीयम् ॥ १३१ ॥

इति श्रीतपोगच्छाधिपति-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-ब्रह्मतेजो-मूर्त्ति-भारतीयभव्यविभूति-महाप्रतिभाशालि-चिरंतन-युगप्रधानकल्प-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेक-प्राचीनतीर्थोद्धारक-श्रीवलभीपुरनरेशाद्यनेकभूपालप्रति-बोधक—पञ्चप्रस्थानमयसूरिमन्त्रसमाराधक—शासन-सम्राट्-जगद्गुरु--भट्टारकाचार्यमहाराजाधिराज-श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरस्य सुप्रसिद्ध पट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति--शास्त्रविशारद-कवि-रत्न-साधिकसप्तलक्ष श्लोकप्रमाणनूतनसंस्कृत साहित्य-सर्जक-परमशासन प्रभावक-निरुपमप्रवचनामृतवर्षि-बाल-ब्रह्मचारि-आचार्यप्रवर श्रीमद्विजयलावण्यसूरी-श्वरस्य प्रधानपट्टधर--व्याकरणरत्न--शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-देशनादक्ष-शासनप्रभावक--बालब्रह्मचारि-आचार्यवर्य श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरस्य पट्टधर-साहित्यरत्न-शास्त्रविशारद-कविभूषण-पञ्चप्रस्थानमय-सूरिमन्त्रसमाराधक--शासनप्रभावक—बालब्रह्मचारि-आचार्यश्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा विरचिता शीलदूताभिधानसमस्यामयकाव्यस्य सुशीला-भिधा वृत्तिः [टीका] समाप्ता ॥

卐 प्रशस्तिः 卐

[उपजाति-वृत्तम्]

श्रीआदिनाथं जिनशान्तिनाथं,
श्रीनेमिनाथं प्रभुपार्श्वनाथम् ।
देवाधिदेवं विभुवर्द्धमानं,
स्तुवे सदाऽहं जिनपञ्चकं वै ॥ १ ॥

[अनुष्टुप्-वृत्तम्]

श्रीवीरस्य जिनेन्द्रस्य, शासनाधिपतेः प्रभोः ।
विजयते सदा विश्वे, पट्टं धर्मधुरन्धरम् ॥ २ ॥
तत्र स्वामी सुधर्माख्यो, गणीन्द्रः श्रुतकेवली ।
निर्ग्रन्थ नामकं गच्छ-मतनोद् भुवि निर्मलम् ॥ ३ ॥
कोटिशः सूरिमन्त्रस्य, जपात् सुस्थितसूरिभिः ।
कोटिगच्छमतिस्वच्छं, स्थापितं तन्महीतले ॥ ४ ॥
चन्द्रं चन्द्रोज्ज्वलं भूयः, सद्यशोरश्मि शोभितः ।
अनुचकार गच्छ-श्री,-चन्द्रसूरीश्वरो महान् ॥ ५ ॥
समन्ताद् वनवासीति, सामन्तभद्रसूरिपः ।
स्वच्छं गच्छं वितेने सः, तदनु भद्रकृद् भुवि ॥ ६ ॥

सर्वदेवाख्यसूरीशः, सर्वश्रेयस्करं कलम् ।
वटगच्छं पवित्रं च, विशालं तदनु व्यधात् ॥ ७ ॥
श्रीमेदपाटभूपाप्त-महातपापदै भुवि ।
श्रीजगच्चन्द्रसूरीशै स्तपागच्छः प्रवर्त्तितः ॥ ८ ॥
परम्परागते स्वच्छे, तपागच्छेऽत्र भूतले ।
यवनाकबरे लेश-प्रतिबोधकराः वराः ॥ ९ ॥
धीर-वीरत्व-हीरत्व-गभीरत्वादि भूषिताः ।
जगद्गुरुवराः विज्ञाः, सञ्जाता हीरसूरयः ॥ १० ॥
प्रतापि सेनसूरीशै-र्दक्षैः श्रीदेवसूरिभिः ।
वादीभैः सिंहकल्पैः श्री-सिंहसूरीश्वरैः क्रमात् ॥ ११ ॥
उल्लासिते तपोगच्छे, वृद्धिविजयकारकाः ।
श्रीवृद्धिविजया जाता, वृद्धिचन्द्रादयः परे ॥ १२ ॥
तेषा ञ्च शान्तमूर्त्तीनां, पादाब्जमधुपोपमाः ।
सर्वशासनसम्राजो, विभ्राजो ज्ञानरश्मिभिः ॥ १३ ॥
सत्तीर्थोद्धारकाः प्रौढाः, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकाः ।
सूरिमन्त्रैकप्रस्थान-पञ्चकाराधकाः किल ॥ १४ ॥
सद्ब्रह्मचारिणः श्रीमन्नेमिसूरीश्वरा वराः ।
क्षमाधरार्चिता जाता स्तत् पट्टाम्बरभास्कराः ॥ १५ ॥
सप्तलक्षाधिकश्लोक-मितस्य संस्कृतस्य च ।
साहित्यस्य सुकर्त्तारः, कृतीशा ब्रह्मचारिणः ॥ १६ ॥

शान्ताः साहित्यसम्राजो, विभ्राजो ज्ञानज्योतिषा ।
ख्याता व्याकरणे वाच-स्पतयः कविरत्नकाः ॥ १७ ॥
शास्त्रविशारदा जाता, लावण्यसूरिशेखराः ।
तेषां पट्टधरा मुख्याः, ख्याता शास्त्रविशारदाः ॥ १८ ॥
कविदिवाकरा दक्षाः, सद्व्याकरणरत्नकाः ।
दक्षसूरीश्वरा जाताः, सरला ब्रह्मचारिणः ॥ १९ ॥
तेषां पट्टधरेणाथ, सहोदरेण साधुना ।
देवगुरुप्रसादात् श्री–सुशीलसूरिणा मया ॥ २० ॥
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन्, रम्ये भरतक्षेत्रके ।
भरते दक्षिणार्द्धे श्री–मध्यखण्डे विराजते ॥ २१ ॥
राजस्थाने हि विख्याते, मरुधर प्रदेशके ।
नगरे रामसेने हि, वर्षास्थितिं प्रकुर्वता ॥ २२ ॥
वेदनेत्रनभोनेत्र [२०२४] मिते वैक्रमवत्सरे ।
आश्विने शुक्ल पक्षे वै, दशम्यां सुतिथौ खलु ॥ २३ ॥
काव्यस्य शीलदूतस्य, टीका श्रीसुशीलाभिधा ।
कृतेयं स्वहितार्थं वै, बाल बोधाय सर्वदा ॥ २४ ॥
यावन्मेरुस्वयम्भू श्री-पुष्पदन्तग्रहाः स्थिताः ।
भूयात् तावदियं टीका, सुशीलाख्या महीतले ॥ २५ ॥

卐 शुभं भवतु 卐

॥ इति सुशीलाभिधाटीकायाः प्रशस्तिः समाप्ता ॥

॥ जैनाचार्य श्रीसुशीलसूरीश्वराष्टकम् ॥

卐

रचयिता—पण्डित श्रीजयदेवशास्त्री, बीकानेर

[१]

सूरिः सुशीलः महनीयकीर्त्तिः,
श्रीनेमिसूरेः किल सम्प्रदाये ।
लावण्यसूरेः किल प्राप्तदीक्षः,
श्रीसूरिदत्तस्य प्रधान शिष्यः ॥ १ ॥

[२]

महात्मनामग्रसरः सुशीलः,
महोदयो धर्मवतां वरिष्ठः ।
कुशाग्रबुद्धिः कविता प्रगल्भः,
विराजते साधुसभाप्रवीणः ॥ २ ॥

[३]

वैदूष्यपूर्णः सुगुणैः सुपूर्णः,
साहित्यरत्नः कविभूषणश्च ।
श्रीजैनधर्मस्य दिवाकरोऽयं,
सुलेखकः शास्त्रविशारदश्च ॥ ३ ॥

[४]

गुणैर्गरिष्ठः यमिनां वरिष्ठः,
महोपदेष्टा कृतिनां वरेण्यः ।
रत्नत्रये लब्धमहाप्रतिष्ठः,
सुशोभते साधुसभाविशिष्टः ॥ ४ ॥

[५]

आचार्यस्य पदं प्राप्य,
दीप्यतेऽयं दयाकरः ।
वर्षाण्यष्टौ व्यतीतानि,
प्राप्ताचार्यपदस्य च ॥ ५ ॥

[६]

बृहद्दीक्षा दिनश्चाद्य,
वर्तते सुमनोहरः ।
महामहोत्सवैः पूर्णः,
क्रियते सुमहात्मनः ॥ ६ ॥

[७]

दीक्षितस्य च लोकस्य,
शीलरक्षणमन्वहम् ।
दुष्करं सुकरं येन,
मुनिना सम्प्रदर्शितम् ॥ ७ ॥

[८]

युग्मविंशतिवर्षाणां,

पालयन् रुचिरां शिवाम् ।

दीक्षा मेव सतां मध्ये,

सदा विजयतेतराम् ॥ ८ ॥

[९]

सुशीलय मुनेः शीलः,

सर्वतः सुमनोहरः ।

व्याख्यान श्चातिरम्यश्च,

प्रशस्तं च विशेषतः ॥ ९ ॥

[१०]

विदुषा जयदेवेन,

निर्मित श्चैतदष्टकम् ।

प्रीत्यै भूयात् सुबोधस्य,

सुशीलस्य मुनेः सदा ॥ १० ॥

[१]

ॐ श्रीस्थूलभद्रजी महाराज की सज्झाय ॐ

श्रीस्थूलभद्र मुनिगणमां शिरदार जो,
चोमासुं आव्या कोश्या आगार जो।
चित्रामण शालाए तप जप आदर्यां जो ॥ १ ॥
आदरीयां व्रत आव्या छो अम गेह जो,
सुन्दरी सुन्दर चंपक वरणी देह जो।
अम तुम सरीखो मेलो आ संसारमां जो ॥ २ ॥
संसारे में जोयुं सकल स्वरूप जो,
दर्पणनी छायामां जेवुं रुप जो।
सुपनानी सुखलडी भूख भांगे नहि जो ॥ ३ ॥
ना कहेशो तो नाटक करशुं आज जो,
बार वरसनी माया छे मुनिराज जो।
ते छोडी केम जाउं हुं आशा भरी जो ॥ ४ ॥
आशा भरीयो चेतनकाल अनादि जो,
भम्यो धरमने हीण थयो परमादी जो।
न जाणी में सुखनी करणी योगनी जो ॥ ५ ॥
योगी तो जंगलमां वासो वसिया जो,
वेश्याने मंदिरीये भोजन रसियां जो।
तुमने दीठा एवा संयय साधतां जो ॥ ६ ॥

साधशु संयम इच्छारोध विचारी जो,
कुर्मापुत्र थया नाणी घरचारी जो।
पाणीमांहे पंकज कोरु जाणीये जो ॥ ७ ॥

जाणीए तो सघली तुमारी वात जो,
मेवा मीठा रसवंता बहु जात जो।
अंबर भूषण नवनवली भाते लावता जो ॥ ८ ॥

लावता तो देती आदरमान जो,
काया जाणु रंग पतंग समान जो।
ठाली ने शी करवी एवी प्रीतडी जो ॥ ९ ॥

प्रीतलडी करता ते रंगभर सेज जो,
रमताने देखाडता घणु हेज जो।
रीसाणी मनावी मुजने सांभरे जो ॥ १० ॥

सांभरे तो मुनिवर मनडु वाले जो,
ढांक्यो अग्नि उघाडयो परजाले जो,
संयममांहे ए छे दूषण मोटकु जो ॥ ११ ॥

मोटकु आव्यु तु राजा नंदनु तेडु जो,
जातां न वहे कांइ तमारु मनडु जो,
में तुमने तिहां कोल करीने मोकल्या जो ॥ १२ ॥

मोकल्या तो मारग मांहि मलिया जो,
संभूति आचारज ज्ञाने बलिया जो।
संयम दीधु समकित तेणे शीखव्यु जो ॥ १३ ॥

शीखव्यु तो कहो देखाडो अमने जो,
धर्म कहंता पुण्य घणोरु तमने जो।
समताने घेर आवी कोश्या इम वदे जो ॥ १४ ॥

वदे मुनिवर शंकाने परिहार जो,
समकित मूले श्रावकना व्रत बार जो।
प्राणातिपातादिक स्थूलथी उच्चरे जो ॥ १५ ॥

उच्चरे तो वीत्यु छे चोमासु जो,
आणा लइने आव्या गुरुनी पासे जो।
श्रुतनाणी कहेवाया चौदे पूरवी जो ॥ १६ ॥

पूरवी थइने तार्या प्राणी थोक जो,
उज्ज्वल ध्याने तेह गया देवलोक जो,
ऋषभ कहे नित्य करीए तेहने वंदना जो. ॥ १७ ॥

卐 卐 卐

[२]

श्रीस्थूलभद्र–कोशा संवाद की सज्झाय

कोशा–वेश जोई स्वामी आपनो, लागे तनडामां लायजी ।
अणघायु स्वामी आ शुं कयु, लाजे सुन्दर कायजी ॥
कोण धूतारे तमने भोलव्या ॥१॥

आवी खबर त्यारे होत तो, जवा देत नहीं नाथजी ।
छेतरीने छेह दीधो मने, पण नहीं छोड़ुं हुं साथजी ॥२॥

स्थूलभद्र–बोध सुणी सुगुरुतणो, लीधो संयम भारजी ।
मात पिता परिवार सहुँ, जूठो आल पंपालजी ॥
नथी रे धूतारे मने भोलव्यो ॥३॥

एहवुं जाणीने कोशा सुन्दरी, धर्यो साधुजीनो वेषजी ।
आव्यो गुरुनी आज्ञा लई, देवा तमने उपदेशजी ॥४॥

कोशा–काल सवारे भेगा रही, लीधा सुख अपारजी ।
ते मने बोध देवा आवीया, जोग धरीने आ वारजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥५॥

कपट करी मने छोडवा, आव्या तमे निरधारजी ।
पण हुँ छोडुं नहीं नाथजी, नथी नारी गमारजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥६॥

स्थूलभद्र–छोडया मात पिता वली छोडयो सहु परिवारजी ।
रिद्धि सिद्धि मे तजी देई, मानी सघलुं असारजी ॥
छेटी रही कर वात तूं ॥७॥

जोग धर्यो अमे साधुनो, छोडयो सघला नो प्यारजी ।
माता समान गणुं तने, सत्य हुँ निरधारजी ॥
छेटी रही कर वात तूं ॥८॥

कोशा–बार वरसनी प्रीतडी, पलमां तोडी न जायजी ।
पस्तावो पाछलथी थशे, कहुँ छुं लागी पायजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥९॥

नारी चरित्र जोई नाथजी, तुरत छोडशो जोगजी ।
माटे चेतो प्रथम तमे, पछी हसशे सहु लोकजी ॥१०॥

स्थूलभद्र–चाला जोई तारा सुन्दरी, डगु हुँ नही लगारजी ।
काम शत्रु कबजे कर्यो, जाणी पाप अपारजी ॥
छेटी रही कर वात तूं ॥११॥

छेटी रही गमे ते करे, मारा माटे उपायजी ।
पण तारा साम्हुं जोउं नहीं, शाने करे हाय हायजी ॥
छेटी रही कर वात तूं ॥१२॥

कोशा–माछी पकडे छे जालमां, जलमांथी जिम मीनजी ।
तेम मारा नयनना बाणथी, करीश तमने आधीनजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥१३॥

ढोंग करवा तजी दई, प्रीते ग्रहो मुझ हाथजी ।
कालजु कपाय छे माहरु, वचनो सुणीने नाथजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥१४॥

स्थूलभद्र—बार वरस सुधी कामिनी, रह्यो तुझ आवासजी ।
विध विध सुख मे भोगव्या, कीधा भोग विलासजी ॥
आशा तजो हवे माहरी ॥१५॥
त्यारे हतो हुँ अज्ञानमां, हतो काममां अंधजी ।
पण हवे ते रस में तज्यो, सुणी शास्त्रनां बोधजी ॥
आशा तजो हवे महारी ॥१६॥
कोशा—ज्ञानी मुनि ने ऋषीसरो, मोटा विद्वान् भूपजी ।
ते पण दास बनी गया, जोई नारीनुं रूपजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥१७॥
साधुपणुं स्वामी नही रहे, मिथ्या वदु नहीं लेशजी ।
देखी नाटारंभ महारो, तजशो साधुनो वेशजी ॥
जोग स्वामी अहीं नही रहे ॥१८॥
स्थूलभद्र—विध विध भूषणो धारीने, सजी रूडा शणगारजी ।
प्राण काढी नांखे ताहरो, कुदी कुदी अहोरातजी ॥
आशा तजो हवे महारी ॥१९॥
तो पण सामुं जोउ नही, गणुं हुँ विष समानजी ।
सूर्य पश्चिम उगे कदी, तो पण छोडुं न मानजी ॥
आशा तजो हवे महारी ॥२०॥
कोशा—भिन्न भिन्न नाटक में कर्या, स्वामी आपनी पासजी ।
तो पण सामु जोई तमे, पूरी नहीं मन आशजी ॥
हाथ ग्रहो हवे माहरो ॥२१॥

हाथ जोडी हवे विनवुं, प्यारा प्राण समानजी ।
बार वरसनी प्रीतडी, याद करो तमे मनजी ॥
हाथ ग्रहो हवे माहरो ॥२२॥

स्थूलभद्र–चेत चेत कोशा सुन्दरी, शुं कहुँ वारंवारजी ।
आ संसार असार छे, नथी सार लगारजी ॥
सार्थक करो हवे देहनुं ॥२३॥

जन्म धरी संसारमां, नवि ओलख्यो जिनधर्मजी ।
विध विध वैभव भोगव्या, कीधा घणेरा कर्मजी ॥
सार्थक करो हवे देहनुं ॥२४॥

ते सहु भोगववा पडे, मुआं पछी तमामजी ।
अधर्मी प्राणीने मले, नही शर्म कोई ठामजी ॥
सार्थक करो हवे देहनुं ॥२५॥

सिन्धु रूपी संसारमां, मानव मीन ते धारजी ।
जंजाल जाल रूपी गणो, कालरूपी माछी मारजी ॥२६॥

कोशा–विषय रस वालो गणी, कीधा भोग विलासजी ।
धर्मना कार्य कर्या नही, राखी भोगनी आशाजी ॥
उद्धार करो मुनिवर माहरो ॥२७॥

व्रत चूकाववा आपनुं, कीधा नाच न गानजी ।
छेड करी मुनिवर आपनी, बनी छुं हुँ अज्ञानजी ॥
उद्धार करो मुनिवर माहरो ॥२८॥

बार वरस सुख भोगव्या, खरच्या खूब दीनारजी ।
तो हुँ तृप्त थई नथी, धिक् मुझने धिक्कारजी ॥२९॥
श्रेय करो मुनिवर माहरुं, बतावीने शुभ ज्ञानजी ।
धन्य छे धन्य आपने, दीठा मेरु समानजी ॥
उद्धार करो मुनिवर माहरो ॥३०॥
स्थूलभद्र—छोडी मोह संसारनो, शीलव्रत सारजी ।
तो सुख शान्ति सदा मले, पामो तमे भवजल पारजी ।
सार्थक करो हवे देहनुं ॥३१॥
कोशा--धन्य मुनिवर आपने, धन्य शकटाल तातजी ।
धन्य संभूतिविजय गुरु, धन्य लाछलदे मातजी ॥
मुक्ति करो मोह जालथी ॥३२॥
स्थूलभद्र--आज्ञा दियो हवे मुझ भणी, जाऊं गुरुनी पासजी ।
चौमासुं पुरुं थया पछी, साधु छंडे आवासजी ॥
रुडी रीते शीलव्रत पालजो ॥३३॥
कोश्या--दर्शन आपजो मुझ भणी, कराववा अमृत पानजी ।
सुर इन्दु कहे स्थूलभद्रजी, थया सिंह समानजी ॥
धन्य छे मुनिवर आपने ॥३४॥

—:०:—

[३]

卐 श्री स्थूलभद्रजीकी सज्झाय 卐

बोली गयो मुख बोल, चार घडीनो कोल,
आच्छे लाल, हजीय न आव्यो वाल हो।
देई गयो दुःख दाह, पाछो नाव्यो नाह,
आच्छे लाल के सही कोणे भोलव्योजी॥ १॥
रहेतो नहीं क्षण एक, रे दासी सुविवेक,
आच्छे लाल, जाई जुओ दिशा दशेजी।
एम बोलंती बाल, एनी उत्तम चाल,
आच्छे लाल, छेल गये मुझ छेतरीजी॥ २॥
उलस बालस थाय, अंग उधाम थाय,
आच्छे लाल, नयणे नावे निन्दडीजी।
चोखा चपक शरीर, नणदलना हो वीर,
आच्छे लाल, नयणे दीठा नगीजी॥ ३॥
जेम बपैया मेह, मच्छ ने जल सु नेह,
आच्छे लाल, भमराने मन केतकीजी।
चकवो चाहे चन्द्र, इन्द्राणी मन इन्द्र,
आच्छे लाल, अहनिशि तमने ओलगु जी॥ ४ से
तुम विण घडिये छ मास, ते मुज नाखी पास,
आच्छे लाल, निष्ठूर पणु नर ते कयु जी।

भागो कोईक दोष, मुकी मननो रोष,
आच्छे लाल, कांईक तो करुणा करोजी ॥ ५ ॥
हुँ निराधार नार, मेली गयो भरथार,
आच्छे लाल, उभी करुं आलोचनाजी।
एम विलवलती कोस, देती करमनो दोष,
आच्छे लाल, दासी आवी दोडतीजी ॥ ६ ॥
सांभल स्वामिनी वात, लाछलदेनो जात,
आच्छे लाल, स्थूलभद्र आव्यो आंगणेजी।
वनिता सांभली वात, हियडे हरख न मात,
आच्छे लाल, प्रीति पावन प्रभु ते करीजी ॥ ७ ॥
पधारो घर मुझ, मुनि भाख्यो सवि गुज,
आच्छे लाल उठ हाथ अलगी रहेजी।
माता आगे मुसाल, तिम मुझ आगल ख्याल,
आच्छे लाल, एह प्रपंच किहां मण्याजी ॥ ८ ।
चित्रशाली चौमास, निहाली मुख तास,
आच्छे लाल, वनिता विधिसु आलोचवेजी,
मादल ताल कंसाल, भूंगल भेरी रसाल।
आच्छे लाल, गावे नव नव रागशुंजी ॥ ९ ॥
वाले त्रिधिसुं अंग, फरती फुदडी चंग,
आच्छे लाल, हाव भाव बहु हेजशुंजी।

सांभल स्वामिनी वात, सिंहने घालें घात,
आच्छे लाल, राईनो पाड़ राते गयोजी ॥१०॥
सो बालके साथे रोई, पावईयाने पानो न होय,
आच्छे लाल, पत्थर फाट्यो ते किम मलेजी ।
समुद्र मीठो न थाय, पृथ्वी रसातल जाय,
आच्छे लाल, सूर्य उगे पश्चिम दिशेजी ॥११॥
प्रतिबोधी एम कोश, छोडी राग न रोप,
आच्छे लाल, द्वादशव्रत उच्चरेजी ।
पूरण कीधो चौमास, आव्या श्री गुरुपास,
आच्छे लाल, दुक्कर दुक्कर तूं सहीजी ॥१२॥
त्रीस वरण घरवास, पूरी सहुनी आश,
आच्छे लाल, पंच महाव्रत पालतांजी ।
धन्य मात धन्य तात, नगर न्याति कहात,
आच्छे लाल, वारु वंश दिपावियोजी ॥१३॥
जे नरनारी गाय, तस घर लच्छी सवाय ।
आच्छे लाल, पभणे शान्ति मयाथकीजी ॥१४॥

— —

[४]

ी स्थूलिभद्रजीकी सज्झाय ॥

…न कोश्या चित रंगे, बेठी छे मनने उमंगे,
पांच सात साहेली संगे रे, स्थूलिभद्र मुनि घर आवे।
आवे आवे लाछलदेनो नंदन रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० १ ॥
आज मारे मोतीडे मेह वुठ्या, देव देवी सर्वे मुझ तुठ्या।
मैं तो जीवन नयणे दीठा रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० २ ॥
आवी उतर्या चित्रशाली, रूडी रतने जडित रढियाली।
मांहे मणीया मोतीनी जाली रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ३ ॥
पकवान जम्या बहु भात, उपर चौसठ शाकनो जात।
तोय न गमे विषयनी वात रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ४ ॥
कोशा सजति सोल सणगार, कागज कंकु हिंगुल हार।
पगवट अंगूठी बिछुवा सार रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ५ ॥
द्वादश धपमप मादल बाजे, भेरी भूंगल वीणा गाजे।
तेम रूपे अपच्छरा साजे रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ६ ॥
कोशाए विषयनी वात वखाणी, स्थूलिभद्र हृदय नवि आणी।
हुँ तो परण्यो संयम पटराणी रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ७ ॥
एम बहुविध नाटक करिया, स्थूलिभद्रे हृदय नवि धरिया।
साधु समता रसना दरिया रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ८ ॥

सुख एणे जीवे अनुभव्यो, काल अनन्तो गमाव्यो ।
तो ये तृप्ति जीव न पाम्यो रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० ९ ॥
वेश्याने कीधी समकित धारी, विषय सुखरसने निवारी ।
एहवा साधुनी जाउं बलिहारी रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० १० ॥
एहवे पुरु थयुं चौमास, स्थूलभद्र आव्या गुरु पास ।
दुक्कर दुक्कर व्रत उल्लास रे ॥ स्थूलभद्र मुनि० ११ ॥
नाम राख्युं छे जगमांही, चौराशी चौवीशी जांही ।
साधु पहोत्यां छे देवलोक मांही रे ॥ स्थूलभद्र मुनि० १२ ॥
पण्डित हस्तिविजय कविराय, अहवा सुगुरुतणे सुपसाय ।
शिष्य खुशालविजय गुण गाय रे ॥ स्थूलिभद्र मुनि० १३ ॥



[५]

॥ श्रीस्थूलभद्रजी महाराज की सज्झाय ॥

आंबो मोर्यो हे आंगणे, परिमल पुहवी न माय ।
पासे फूली हे केतकी, भ्रमर रह्यो हे लोभाय ॥ आंबो० १ ॥
आवो स्थूलिभद्र वालहा, लाछलदेना नंद ।
तुमशु मुज मन मोहियु, जिम सायरने हो चन्द ॥ आंबो० २ ॥
सुगणा साथे हो प्रीतडी, दिन दिन अधिकी हो थाय ।
बेठो रंग मजीठनो, कदीये चटकी न जाय ॥ आंबो० ३ ॥
नेह विहुणां रे माणसां, जेहवां आवल फूल ।
दीसंता रलीयामणां, पण नवि पामे हो मूल ॥ आंबो० ४ ॥
कोयलडी टहुका करे, आंबे लहेके रे लुंब ।
स्थूलिभद्र सुरतरु सारिखा, कोश्या कणयर कंब ॥ आंबो० ५ ॥
स्थूलिभद्रे कोश्याने बूझवी, दीधु समकित सार ।
रूपविजय कहे शीलथी, लहिये सुख अपार ॥ आंबो० ६ ॥

[६]

श्रीस्थूलिभद्रजी की सज्झाय

(दुहा)

सरस्वतीने चरणे नमी, मनमथ मारण टोल ।
स्थूलिभद्र ऋषि आवीया, कोशा मन्दिर मोल ॥१॥

उठ हाथ अलगी रही, कोशा वदजे बोल।
चार मास चित्रशालीये. मुनिवर रह्या अडोल ॥२।

(ढाल)

[दुःख दोहग दूरे टल्यां रे—ए देशी]

कोशा कहे स्थूलिभद्रजी रे, कूडा करो चकडोल।
सारी पासा सोगठा रे, अम घर ए रंगरोल,
स्थूलिभद्र ! अम घर ए रंगरोल ॥ ३ ॥

स्थूलिभद्र वलतुं इम कहे रे, सुण कोशा अम बोल।
अरिहंत नाम हैये धरुं रे, अम घर ए रंगरोल रे ॥
कोशा अम० ॥४॥

शाल दाल शुभ सालणां रे, पोली घीशुं झबोल।
भोजन कीजे भावतां रे, अम घर ए रंगरोल ॥
स्थूलिभद्र० ॥५॥

सरस नीरस करी एकठां रे, भोजन कीजे घोल।
स्वाद लंपटपणुं परिहरी रे, अम घर ए रंगरोल रे ॥
कोशा० ॥६॥

आंखडीयुं दोय आंजीये रे, झबके झाल कपोल।
पट पीताम्बर पहेरीये रे, अम घर ए रंगरोल रे ॥
स्थूलिभद्र० ॥७॥

लोच करावुं केशनो रे; माथे न बांधुं मोल।
जीरण वस्त्र पहेरुं सदा रे, अम घर ए रंगरोल रे ॥
कोशा० ॥८।

वारु विलेपन कीजिए रे, कीजीए अंग अघोल ।
शरीर सुन्दर सोहावीए रे, अम घर ए रंगरोल ॥
स्थूलिभद्र० ॥६
वारु वीलेपन वरजिये रे, वरजिये अंग अंघोल ।
शीले शरीर सोहावीए रे, अम घर ए रंगरोल ॥
कोशा० ॥१०
कपूरे कीजे कोगला रे, मुखे दीजे तंबोल ।
नवलखो हार हैडे धरु रे, अम घर ए रंगरोल ॥
स्थूलिभद्र० ॥११
सुकृत करणी कोगला रे, मुखे ठवीये सत्य बोल ।
अरिहंत नाम हैडे धरु रे, अम घेर ए रंगरोल रे ॥
कोशा० ॥१२
सुख शय्याए पोढीये रे, हिंचिये हरष हिंडोल ।
धूपघटी अति महमहे रे, अम घर ए रंगरोल ॥
स्थूलिभद्र० ॥१३
संयम सुन्दर सुन्दरी रे, पासे करती कल्लोल ।
ज्ञान दीपक दीपे सदा रे, अम घर ए रंगरोल ॥
कोशा० ॥१४॥
सोमविमल पंडित तणो रे, कोशा स्थूलिभद्र बोल ।
भणे गणे ने सांभले रे, तस घर नित्य रंगरोल ॥
भविका तस घर नित्य रंगरोल ॥१५॥

॥ समाप्तम् ॥